# जैन क्षितिज के उदित नक्षत्र

– 'युगल'

# जैन क्षितिज के उदित नक्षत्र

आलेख -

**महामना व्यक्तित्व**

लेखक

**बाबू 'युगल' जैन** एम.ए., साहित्यरत्न

कोटा

सम्पादक

**ब्र. नीलिमा जैन**

कोटा

प्रकाशक

**आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन, कोटा**

मो. 94141-81512

**प्रथम संस्करण** : 1100 प्रतियाँ
अध्यात्म मनीषी बाबू 'युगल' जी
शताब्दी समारोह पर आयोजित
आध्यात्मिक शिविर एवं विद्वत् संगोष्ठी
कोटा पर प्रकाशित (4,5,6 अप्रैल 2025)

**मूल्य** : स्वाध्याय

**प्राप्ति स्थान** -

- आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन
  85, चैतन्य विहार, आर्य समाज की गली,
  रामपुरा, कोटा (राज.) 324006
  मो. 94141-81512 (चिन्मय जैन)

**मुद्रक :** देशना कम्प्यूटर्स
मो. 9928517346

# 'धन्य-धरा के वैभव'

**- ब्र. नीलिमा जैन, कोटा**

आर्यखण्ड के भरत क्षेत्र की पावन वसुन्धरा अनादि से ही महातपस्वी निर्ग्रन्थ श्रमणों के उद्भव से निरन्तर हरी-भरी रही है, दो हजार वर्ष के काल क्रम में दक्षिणांक में सिद्धान्त साधक आचार्य धरसेन, पुष्पदंत, भूतबली, वीरसेन आदि की अचेलक परम्परा में, अध्यात्म श्रुत प्रणेता प्रज्ञापुंज आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र मुनीश्वर पद्मनन्दि आदि सहस्त्रों महा महर्षियों की सतत् मूलधारा में निर्मल बोधि सम्पन्न, विलक्षण प्रतिभाधारी, प्रकाण्ड विद्वान् आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी, महाकवि पण्डित बनारसीदासजी, पं. भूधरदासजी, पं. राजमलजी जैसे सैंकड़ों आत्मगवेषी, पुरुषों की धवलकीर्ति ने हमारे जैनशासन का शीर्ष ऊँचा किया है।

साथ ही एक दिव्य दान था उन महामना का - मुक्तिप्रदायी, गद्य-पद्य सत् साहित्य का प्रणयन कर, उन्होंने इस विपुल भंडार को, माँ सरस्वती के अक्षय कोष में समर्पित कर, उसे परिपुष्ट किया है, जो आज भी हमें अविकल रूप में उपलब्ध है, इसकी चन्द्र रश्मियाँ, दिग्-दिगन्त में व्याप्त होकर, जैन जगत को स्वच्छ आलोक प्रदान कर रही हैं, जिसके प्रकाश में भविजन शाश्वत समाधान पाकर, निज पौरुष द्वारा सत्यम्, शिवं, सुन्दरम् की सुखद दिशा में अपने डग भर रहे हैं।

इसी पुनीत परम्परा में दिगंबर प्रांगण में शुद्धतत्त्वदृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का अवतरण हुआ, जिन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि द्वारा निर्ग्रन्थ संतों एवं विद्वानों के साहित्य का सींचन कर, उसे अपनी अनुभूति में उतारा और वही रस उनकी वाणी में 45 वर्षों तक निर्झरित होता रहा, जो वर्तमान में लाखों लोगों के कंठ का संगीत बन स्फुरित हो रहा है।

श्रुतधारा की अचल संतति में लोक मांगल्य के उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित साहित्य सम्राट, दार्शनिक मनीषी पूज्य बाबू युगलजी, जैन दर्शन के प्रखर व्याख्याता के रूप में विख्यात हुए, पूज्य गुरुदेव से अमर संजीवनी का

अमृत पाकर उनकी विषैली आस्थाओं का प्रक्षालन हो गया और वे अध्यात्म लोक एवं लोकप्रिय काव्य में विचरण करने लगे, तभी क्षण भर में विश्व के स्वर्णिम पटल पर उपासना 'केवल रवि' की किरण, अपनी घनीभूत अनुभूति के साथ प्रकाशित हो उठी, जो अपनी चैतन्य की चहल-पहल चहुँओर बिखेर रही है। 'युगल' द्वय अमर कृति की एक भेंट ओर! सिद्धशिला पर स्थित अनंत सिद्धप्रभु को अपने श्रुतज्ञान के मंडप में आमंत्रण का संदेश प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त 'निज वज्र पौरुष' की ध्वनिपूर्वक सिद्ध पूजन दे रही है।

साहित्यविद् पूज्य बाबूजी का विविधमुखी उच्च स्तरीय गद्य व पद्य साहित्य बड़ी ही समृद्धता के साथ अपने प्रांजलरूप में मुखरित हुआ है, सशक्त भाषा प्रवाह में, अलंकारिक छटा, भावों की अनुगामिनी बन, मधुर रस उड़ेल रही है, जिसमें द्रव्य व भाव पक्ष समान रूप से गतिमान हुए हैं वरना भाव के बिना द्रव्य तो छाल व छिलका है।

पूज्य बाबूजी ने 'उदित नक्षत्र' इस 'व्यक्तित्व वाटिका' में लोकोत्तर पुरुषों की उपलब्धियों को अपनी स्वर्ण कलम से श्रद्धा व भक्ति के पुष्पों की गंध भरकर, लेखांजलि में समर्पित किया है, इसमें उनके अर्न्ततम की अनुभूतियों को दर्पणवत् उजागर कर देना भी पूज्य बाबूजी जैसे बलिष्ठ ज्ञानधर को ही संभव है, वरना हमारी परिकल्पना से परे है।

उनकी सम्मान मंजुषा में लेखांशों के लघुकाय अंश...

## जीवन एवं दर्शन - 'भगवान् महावीर'

- महावीर आत्मवादी महापुरुष हुए, अत: उनके अनेकांत-दर्शन की संपूर्ण-उपयोगिता भी आत्मा के लिए है, अनेकांत सत्य एवं असत्य का समझौता नहीं करता, वरन् अनैकांतिक ज्ञान का संपूर्ण व्यवसाय सत्य एवं यथार्थ में ही होता है।

- महावीर की बहुचर्चित - अहिंसा की आधारशिला भी अनैकांतिक - दर्शन ही है, आज महावीर की अहिंसा 'जिओ और जीने दो' के वायुमंडल में प्रतिबद्ध होकर जीवन की संरचना में निष्प्राण हो गई हैं।

– सचमुच यह जैन दर्शन का अनेकांत–सिद्धान्त ही है जो समस्त भारतीय–दर्शनों से अलग पहचाना जाता है।

– अनेकांत द्वारा जीव अपने विश्वव्यापी ममत्व को समेटकर अपने ज्ञान को सुधासिंधु चैतन्य में समाहित कर लेता है और उस सुधासिन्धु–आनंद का अविरल रसास्वादन करता है, महावीर के दर्शन में यही साधक की समाधि एवं योगमुद्रा है और इसकी पराकाष्ठा ही मुक्ति है।

## आचार्य कुन्दकुन्द और उनका प्रदेय

''बोधिबुद्ध कुन्दकुन्द ने श्रुतधारा के प्रधान अंग परमागम को ताड़पत्रों में लिपिबद्ध कर भरतक्षेत्र में द्वितीय श्रुत स्कन्ध की प्रतिष्ठा कर मुक्ति द्वार खोल दिया।''

– अरे! पाँचों ही परमागम कलिकाल के अनमोल मणि मुक्ता हैं, वीतरागता की जन्मस्थली है, जिनमें शुद्धनय का विषयभूत शुद्धात्मा ही ध्रुव केन्द्र पर स्थित है।

– अहो! द्रव्य दृष्टि की सर्वोपरि रचना यह भवान्तक समयसार है। न केवल कुन्दकुन्द साहित्य वरन् संपूर्ण जिनागम में समयसार जैसी आत्म प्रस्फुटक कृति दूसरी नहीं है, इसकी एक–एक गाथा मोह विष निवारक गारुढ़ी मंत्र है।

– समयसार का कर्ताकर्म अधिकार विश्व के विधान का प्रकाशक एवं जैन दर्शन का वैज्ञानिक अन्वेषण है।

– सचमुच! यदि आचार्य कुन्दकुन्द का यह समयसार नहीं होता तो प्राप्त जिनागम में से द्रव्य दृष्टि खोज पाना संभव नहीं था। अतः समयपाहुड़ की यह द्रव्यदृष्टि एवं शुद्ध जीव तत्त्व ही कुन्दकुन्द का भवान्तक प्रदेय है।

– आचार्य कुन्दकुन्द पवित्र मुनिधर्म के प्रिय प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने महावीर के अचेलक धर्म में आये शिथिलाचार एवं विकृतियों पर निर्दय प्रहार किये और उस मुनिधर्म का सुदृढ़ एवं सघन गठन कर, उसकी सुरक्षा की, जिसमें स्खलन का किंचित् भी अवकाश नहीं।

– श्रमण धर्म में व्याप्त विषमता उन्हें तनिक भी सह्य नहीं, अतएव सूत्र

पाहुड़ की 17-18 गाथा में वे बिल्कुल बेलिहाज बोलते हैं कि बाल के अग्रभाग की कोटि अर्थात् अणि मात्र भी परिग्रह यदि मुनि ग्रहण करता है तो वह निगोद का पात्र है।

- उन्होंने मुनिधर्म के भव्य भवन का शिलान्यास, सम्यग्दर्शन की फौलादी भूमि पर किया और कहा कि जो दर्शन से भ्रष्ट है, वे सभी प्रकार से भ्रष्ट हैं, उनका निर्वाण नहीं होता।

## महाकवि बनारसीदास एवं उनका साहित्य मूल्यांकन

पण्डित बनारसीदास का गार्हस्थ्य जीवन भी कष्टों से घिरा रहा, एक ऊबड़-खाबड़ रास्ते की तरह विषमतम, उतार-चढ़ावों की एक अद्भुत कहानी है। उन्होंने तीन विवाह किए, आठ पुत्र एवं दो पुत्रियाँ हुईं, किन्तु सबके सब एक पतझड़ के पत्ते की तरह गिर गये। बनारसीदास ने अपने दाम्पत्य के इस अभागे स्थल को अपने अर्द्धकथानक में वैराग्य का बड़ा भव्य स्वरूप प्रदान किया है।

- महाकवि बनारसीदास ने अपनी एक हजार दोहा, चौपाई की शृंगार रचना नवरस पदावली, उसके भयंकर दोषों का विचार करके गोमती नदी में प्रवाहित कर दी, यह भी उनके उदात्त एवं आदर्श चरित्र का एक ज्वलंत प्रमाण है।

- समयसार नाटक में अध्यात्म को चरमसीमा पर पहुँचाया है, इसमें बनारसीदास के अध्यात्म ज्ञान एवं अनूठे काव्य-कौशल के कारण मात्र अनुवाद नहीं, वरन् एक मौलिक ग्रंथ सा प्रतीत होता है।

- इस लेखमाला में महाकवि बनारसीदास को हिन्दी साहित्य के शीर्ष कवि तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, मीरा आदि के समक्ष स्थापित किया है। सचमुच! जैन धर्मावलंबी होने से सांप्रदायिक विद्वेष के कारण बनारसीदास को हिन्दी साहित्य से उपेक्षित रखा गया, मात्र हिन्दी साहित्य में उनका अर्द्धकथानक बहुचर्चित है और हिन्दी के आधुनिक श्रेष्ठ साहित्यकार भी उसे हिन्दी साहित्य का प्रथम एवं श्रेष्ठ आत्मकथानक स्वीकार करते हैं।

- **विशेष** - पूज्य बाबूजी द्वारा लिखित, यह प्रमुख विशद लेख हिन्दी साहित्य कोष की मूल्यवान निधि है। निष्पक्ष होने के कारण राजस्थान विश्व

विद्यालय ने भी इसे ससम्मान स्वीकार करते हुए अपने पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया है और वहाँ की माँग आने पर इसकी अनेक प्रतियाँ भी विश्वविद्यालय में पहुँचाई गई हैं।

## एक महान व्यक्तित्व : आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

हिन्दी जैन जगत में पण्डित टोडरमलजी के समकक्ष कोई दूसरा विद्वान नहीं हुआ, उनके पूर्व एवं पश्चात् हिन्दी जैन-जगत् में अनेक गद्य-पद्यमय, मौलिक रचनाओं की सृष्टि हुई है, किन्तु वे सब मिलकर भी पण्डित टोडरमल की असाधरणता को प्रभावित नहीं कर सकी।

- उनकी प्रसिद्ध मौलिक रचना श्री मोक्षमार्ग प्रकाश में उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा की अजस्रधारा प्रवाहित हुई है, मोक्षमार्ग के गूढ़ एवं शुष्क विषय को इतनी सुन्दरता से उठाया है कि हृदय उसमें डूबता ही चलता है। कहीं भी ऊबता नहीं है।

- इस ग्रन्थ की रचना शैली इतनी सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित है कि ऐसी रचना शैली अन्यत्र उपलब्ध नहीं है, इस शैली के कारण पण्डित टोडरमलजी का व्यक्तित्व हिन्दी जैन जगत के शत्-शत् विद्वानों से भी ऊँचा हो गया है। उनकी प्रतिभा के असंख्य चमत्कार उनकी शैली में ही साकार हुए हैं।

- इस ग्रन्थ के प्रत्येक वाक्य मुक्तिपथ का माइल स्टोन है, जिसका अनुशीलन निश्चित ही मुक्तिधाम पहुँचा देता है।

- विश्व साहित्य की गरिमा मोक्षमार्ग प्रकाशक के गर्भ में कितने रत्न समेटे पड़े हैं। यह गणनातीत है, सचमुच उसका मस्तक 'आचार्यकल्प' संज्ञा का गौरवमय मुकुट धारण करने योग्य है।

## 'मोक्षमार्गप्रकाशक' : एक अध्ययन

- अनवधि अज्ञान तमावृत अंत:चक्षुओं के घन आवरण को ध्वस्त कर ध्रुव ज्ञानालोक का अनायास उद्घाटन कर देने वाला मोक्षमार्ग प्रकाशक निश्चय ही सत् साहित्य का शृंगार है।

- अध्यात्म जैसे गूढ़ विषय का विवेचन होने पर भी समग्र मोक्षमार्ग

प्रकाशक की शैली में एक औपन्यासिक छटा है, पढ़ते-पढ़ते जी अघाता नहीं और आगे बढ़ने की उत्सुकता शांत होती ही नहीं है।

– आज के बुद्धिवादी मानव के लिए मोक्षमार्ग प्रकाशक निश्चित ही एक भव्य प्रकाशस्तम्भ के समान दिशा निर्दिष्ट कर रहा है।

– अपने प्राणों के मूल्य पर मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसी अनुपम निधि को देकर नि:संदेह पंडित टोडरमलजी ने समग्र विश्व और विश्व साहित्य को उपकृत किया है, मताग्रह का अंजन लगाकर भले ही विश्व उसका मूल्यांकन न कर पावे, किन्तु इससे इस रत्नाकर की गरिमा कम नहीं होती।

## सर्वोदयी युगनेता पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी

– शताब्दियों के उपरान्त मानो एक निधि युग को मिली है, जिसे पाकर युग के सोते भाग्य जाग उठे हैं, उनके जीवन के अंतरंग तथा बहिरंग दोनों पक्ष समानरूप से समृद्ध हैं।

– उनका तत्त्व मात्र आगम के पन्नों पर लिखा नहीं रहा, अनुभूति की गहराई में उतर गया है, जीवन में उस तत्त्व-संपादन के पीछे एक स्पर्धाजनक कहानी है।

– पुरुषार्थ उग्र था, अत: स्वयं प्रबुद्ध हो तत्त्व को पा लिया अपरिमित भौतिक ऐश्वर्यों के स्वामी एक चक्रवर्ती की अपेक्षा, उस तत्त्व को पाकर वे अधिक सुखी हैं।

– उनके कारण स्वर्णपुरी आज स्वावलंबन का प्रतीक बन गई है, जीवन के किसी क्षेत्र में सोनगढ़ आज परमुखापेक्षी नहीं है और न कभी रहा है, विद्वान, वकील, अभियन्ता, धन, कुबेर सभी उस महापुरुष के आश्रम में आकर धन्य हुए हैं।

## नाट्य भरत बाहुबली

नाट्यकार पूज्य युगलजी द्वारा एक अनूठी उपलब्धि ओर – पौराणिक नाट्य भरत बाहुबली विभिन्न रसों के समावेश पूर्वक साहित्यिक छटा में छाया में प्रसूत हुआ है। यह भी व्यक्तित्व लेखमाला का ही एक हिस्सा है।

सच! मूर्तमान इस 'उदित नक्षत्र' लेखमाला में दार्शनिक चिंतन द्वारा,

मनीषियों के समीक्षात्मक चरित्र व प्रदेय का मूर्तरूप संपूर्ण समग्रता पूर्वक प्रगट हुआ है, जिसका अवलोकन कर लेने पर हमारा मस्तक उनके चरणों में नत हुए बिना नहीं रहता। अहो! उनकी अर्न्तदृष्टि और मूल्यवान आध्यात्मिक दृष्टिकोण, चारित्र के उत्थान पतन की प्रेरक कहानी, एक ओर कर्मचक्र का विचित्र परिणमन, दूसरी ओर अकेला स्वयं का आत्म-अन्वेषण। ऐसे बुझे-अनबुझे समस्त पहलू पूज्य बाबूजी की सुदृढ़ भाषा में सघन अनुभूति लेकर व्यक्त हुए हैं और मृदुल इतने कि पढ़ने पर हृदय मोम बन पिघल जाता है, क्योंकि वस्तु तत्त्व का विवेनचन तह में जाकर होता था, जो जन-जन की स्मृति में अंकित हो जाया करता है, इसकी एक प्रमुख विशेषता उनकी मनोवैज्ञानिक व तार्किक शैली रही है।

इसी उत्कृष्ट भावना से पूर्व में प्रकाशित एवं अप्रकाशित, यत्र-तत्र बिखरे, महामना व्यक्तित्व संबंधी लेखों को सुनियोजित व सुगठित आकार देकर विशेष परिशोधन की छाया में पुनः प्रकाशित कर रहे हैं। साथ ही यह गौरव गाथा ग्रन्थ धवल वंशी पूज्य बाबू युगलजी कोटा के जन्म शताब्दी समारोह के अवसर पर आत्म पिपासुओं को समर्पित कर हृदय हर्षित है, इसे पढ़कर आबाल-युवा सभी में एक नई चेतना व साहस का संचार होगा - ऐसा विश्वास है।

सचमुच! साहित्य के ये श्रेष्ठ अलंकरण और उनके 'अजेय सूत्र' हमारे अभिशापों की घड़ियों में वरदानों के सुन्दर फूल लेकर युगों-युगों तक सौरभ प्रदान करते रहेंगे, ऐसी भावभरी अगणित स्वर्ण-रजत मुद्रायें उन वीर पुरुषों के चरणों में समर्पित करते हैं।

**उनका एक-एक अक्षर भी जीवन सुमन खिला जाता है।**
**पारस का लघु कण लोहे को, देखो स्वर्ण बना जाता है।।**
**अरे! महापुरुष तो जग में आते जाते जग को दे जाते हैं।**
**किन्तु जौहरी ही हीरों का, अद्भुत मौल चुका पाते हैं।।**

**5 अप्रैल 2025** **आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन**
**'युगल' शताब्दी समारोह** **कोटा**

# प्रस्तवन

**- बाबू 'युगल' जैन, कोटा**

जैन दर्शन विश्व के सभी दर्शनों से एक निराला दर्शन है क्योंकि वह अनादि अनंत, अकृत एवं स्वयंसिद्ध वस्तु-व्यवस्था की वज्र चट्टान पर खड़ा है। कालचक्र के अनंत प्रवाह में इस दर्शन के प्रणेता तीर्थंकर आदि महापुरुषों से लेकर अनेक आचार्य एवं आत्मवेत्ता अगणित ज्ञानी पुरुष हुए हैं, जिन्होंने समय-समय पर इस दर्शन का तत्त्वगर्भित प्रतिपादन किया है। इसी प्रवाह में बीसवीं सदी में इस दर्शन के सिद्धान्तवेत्ता अध्यात्मिक महापुरुष पू. गुरुदेव श्री कानजीस्वामी हुए हैं, जिनकी दिव्यवाणी से लाखों लोगों को जैन दर्शन के रहस्य उपलब्ध हुए हैं।

मेरी काव्य कृति 'चैतन्य वाटिका' की तरह इस लेखमाला 'चैतन्य विहार' का भी सम्पूर्ण श्रेय पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी को ही है। जैन दर्शन के सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक विषयों का बोध मुझे तब हुआ, जब मैं सन् 1950 में श्रावणमास के शुक्ल पक्ष में कोटा के अध्यात्म विधाता स्व. पू. बाबू ज्ञानचंदजी सा. के साथ पहली बार सोनगढ़ पू. गुरुदेवश्री के चरणों में पहुँचा और उनकी दिव्य वाणी सुनी, वह वाणी सुनकर मेरा कायापलट हो गया और मेरी सर्व मिथ्या आस्थाओं का अंत हो गया।

इस व्यक्तित्व लेखमाला के विविध लेख जीवन दर्शन-भगवान महावीर, आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनका प्रदेय, महाकवि बनारसीदास आदि सभी लेख जिनागम सिद्धान्तधारा सम्मत हैं और इसमें संदेह का किंचित् अवकाश नहीं है।

इस संकलन में एक प्रमुख विशद लेख 'महाकवि बनारसीदास एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन' समाहित है, जिसमें महाकवि बनारसीदास को हिन्दी साहित्य के शीर्ष कवि तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, मीरा आदि के समकक्ष स्थापित किया है। सचमुच जैन धर्मावलम्बी होने से सांप्रदायिक विद्वेष के कारण बनारसीदास को हिन्दी साहित्य से उपेक्षित रक्खा गया, मात्र हिन्दी

साहित्य में उनका अर्द्धकथानक बहुचर्चित है और हिन्दी के आधुनिक श्रेष्ठ साहित्यकार भी उसे हिन्दी साहित्य का प्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ आत्मकथानक स्वीकार करते हैं। फिर भी बनारसीदास के आध्यात्मिक एवं अन्य विशाल काव्य भंडार को जैन धार्मिक होने के कारण हिन्दी साहित्य से अछूता रखा गया। निष्पक्ष आधुनिक साहित्यकारों का कथन है कि यदि धर्म के कारण ही किसी साहित्यकार को साहित्य से वंचित रखा गया तो सूर, तुलसी, कबीर, जायसी जैसे धार्मिक भक्त कवि सभी साहित्य की परिधि में प्रवेश नहीं पा सकेंगे। जैसे इन भक्त कवियों ने अपने काव्य के द्वारा एकेश्वरवाद के आधार पर सगुण एवं निर्गुण धाराओं में समाज को मुक्तिमार्ग दिये, उसी प्रकार अध्यात्म कवि बनारसीदास ने अपनी अध्यात्म धारा में अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मद्रव्य के अवलंबन पर पूर्ण स्वाधीन एवं सारे जगत से विलक्षण मुक्ति मार्ग हिन्दी साहित्य को दिया जो हिन्दी साहित्य कोष की एक मूल्यवान निधि है। इसी रूप में एक अनूठा एवं विशाल आध्यात्मिक कोष भी महाकवि बनारसीदास से हिन्दी साहित्य को उपलब्ध है, जिससे हिन्दी साहित्य जगत का काव्य कोष भी काफी समृद्ध एवं उपकृत होगा।

महाकवि बनारसीदास ने अपनी एक हजार दोहा, चौपाई की शृंगार रचना नवरस पदावली उसके भयंकर दोषों का विचार करके गोमती नदी में प्रवाहित कर दी, यह भी उनके उदात्त एवं आदर्श चरित्र का एक ज्वलंत प्रमाण है। निष्पक्ष होने के कारण राजस्थान विश्वविद्यालय ने भी अपने पाठ्यक्रम में इस लेख को स्वीकार किया है और वहाँ से माँग आने पर इसकी अनेक प्रतियाँ भी विश्वविद्यालय को पहुँचाई गई हैं।

सचमुच जैन दर्शन के विराट यह व्यक्तित्व महासाधक महापुरुष हमें तत्त्वज्ञान की दिशा में पावन आलोक प्रदान करेंगे - ऐसा विश्वास है।

मेरे इन बिखरे हुये विषयों की प्रतिलिपि करके उन्हें सुरक्षित रखने में मेरी सुपुत्री ब्र. नीलिमा को ही एक मात्र श्रेय है। साथ ही जैन युवा फेडरेशन कोटा के कर्मठ एवं उत्साही सदस्यों ने मेरे काव्य संग्रह चैतन्य वाटिका के साथ इस लेखमाला को त्वरा से प्रकाशित करने में रात्रि दिवस जो अथक श्रम किया है तदर्थ मैं उन सभी का अत्यन्त आभारी हूँ।

# अनुक्रम


| | | |
|---|---|---|
| – | आर्हत्–वन्दना | 13 |
| 1. | जीवन एवं दर्शन — भगवान् महावीर | 15 |
| 2. | आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनका प्रदेय | 25 |
| 3. | महाकवि बनारसीदास एवं उनका साहित्यिक मूल्यांकन | 56 |
| 4. | एक महान्–व्यक्तित्व : आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल | 92 |
| 5. | मोक्षमार्गप्रकाशक : एक अध्ययन | 99 |
| 6. | सर्वोदयी–युगनेता : श्री कानजी स्वामी | 125 |
| 7. | नाटक : भरत–बाहुबली | 135 |


❁❁❁

# आर्हत्-वन्दना

- बाबू 'युगल' जैन, कोटा

तुम चिरंतन, मैं लघुक्षण,
लक्ष वन्दन, कोटि वन्दन!

तुम चिरंतन
मैं लघुक्षण
जागरण तुम
मैं सुषुप्ति
दिव्यतम आलोक हो प्रभु
मैं तमिस्रा हूँ अमा की,
क्षीण अन्तर, क्षीण तन-मन
तुम चिरंतन...

शोध तुम
प्रतिशोध रे ! मैं
क्षुद्र-बिन्दु,
विराट हो तुम,
अज्ञ मैं पामर अधमतम
सर्व जग के विज्ञ हो तुम,
देव ! मैं विक्षिप्त उन्मन्
तुम चिरंतन...

चेतना के
एक शाश्वत
मधु मदिर
उच्छ्वास ही हो
पूर्ण हो, पर अज्ञ को तो
एक लघु प्रतिभास ही हो,
दिव्य कांचन, मैं अकिंचन
तुम चिरंतन...

व्याधि मैं
उपचार अनुपम
नाश मैं
अविनाश हो रे!
पार तुम, मँझधार हूँ मैं
नाव मैं, पतवार हो रे!
मैं समय, तुम सार अर्हन्।
तुम चिरंतन, मैं लघुक्षण,
लक्ष वन्दन, कोटि वन्दन!

❁❁❁

# जीवन एवं दर्शन – भगवान् महावीर

**म**हावीर भगवान का जन्म भारत की इस पुण्य-वसुंधरा पर लगभग 2600 वर्ष पूर्व हुआ। उनका जन्म नाम वर्धमान था, किन्तु अजेय शक्ति-सम्पन्न होने से उन्हें महावीर कहा जाने लगा। अनेक विशिष्ट-गुण-सम्पन्न होने के कारण वे 'सन्मति', 'वीर' एवं 'अतिवीर' भी कहलाये।

तत्कालीन भारत में गणतंत्र-शासन-पद्धति थी और नागरिकों द्वारा गणराजाओं का चुनाव किया जाता था, उस समय भारतवर्ष के पूर्वीय-अंचल के मध्यदेश में वैशाली-गणतंत्र की न्याय-व्यवस्था समग्र-भारत में विख्यात थी, वैशाली का ही एक भाग 'कुंडग्राम' (कुंडपुर) था और उस गणराज्य के अधिपति नाथवंशीय क्षत्रिय-राजा सिद्धार्थ थे, उनकी रानी त्रिशला के गर्भ से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वर्धमान का जन्म हुआ।

महावीर भगवान के रूप में नहीं वरन् एक सामान्य-राजकुमार की तरह पैदा हुए। विवाह नहीं किया। 30 वर्ष में दीक्षित होकर अन्तर्मुखी साधना द्वारा मोह, राग व द्वेष का उन्मूलन कर 42 वर्ष में वीतराग एवं सर्वज्ञ अरहंत-पद पर आसीन हो गये और अपनी सर्वज्ञता अथवा कैवल्य-किरणों से सम्पूर्ण-विश्व के पदार्थों का प्रत्यक्ष-अवलोकन करने लगे एवं 72 वर्ष में निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

महावीर ने जैनधर्म के रूप में किसी नये धर्म का प्रवर्तन नहीं किया वरन् उनका धर्म वही था, जो उनके पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ आदि तेईस तीर्थंकर तथा उन जैसे अनंत-तीर्थंकरों का था। उन्होंने धर्म की रचना नहीं, वरन् प्रतिपादन किया, वस्तुतः महावीर का सम्पूर्ण-दर्शन अनैकांतिक-वस्तुव्यवस्था की वज्र-चट्टान पर खड़ा है, वह किसी व्यक्ति-विशेष की परिकल्पना नहीं है।

अनैकांतिक-वस्तुव्यवस्था के संदर्भ में महावीर ने कहा कि समग्र-विश्व में अनंत-चेतन एवं अनंत-जड़पदार्थ हैं। सभी पदार्थ परस्पर अत्यन्त-भिन्न एवं स्वयंसिद्ध एवं अनादि-निधन है, कोई उनका कर्ता, धर्ता एवं हर्ता नहीं है, कोई पदार्थ सर्वथा-नया उत्पन्न नहीं होता और किसी पदार्थ का सर्वथा-नाश नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अनेक अंत अर्थात् अनंत-धर्म अथवा अनंत-शक्तिमय है। वह सदा ही अपनी स्वरूपसीमा में रहता है, इसका कारण उसके भीतर सदैव-विद्यमान अस्ति-शक्ति है और कभी भी किसी अन्य-पदार्थ का उसमें प्रवेश न होने से अन्य-पदार्थ का उसमें सदैव अभाव रहता है, इसका कारण उसकी नास्ति-शक्ति है इसप्रकार एकसमय में प्रत्येक-पदार्थ की सत्ता नित्य अर्थात् वही की वही रहती है, नष्ट नहीं होती, इसका कारण उसकी नित्य शक्ति है, साथ ही उसमें प्रतिसमय नई-नई वृत्तियों का उत्पाद-व्यय होता रहता है, इसका कारण उसकी अनित्य शक्ति है, इसप्रकार एक ही समय में वस्तु नित्य भी एवं अनित्य भी, जैसे कि आत्मा में लोभ की वृत्ति का व्यय होकर क्रोध की वृत्ति पैदा होती है और फिर क्रोध का भी व्यय होकर दूसरे ही क्षण में मान का जन्म होता है, किन्तु आत्मा तो वही की वही रहती है, आत्मा का अभाव होकर नयी आत्मा पैदा नहीं होती, वरन्

एक वृत्ति (पर्याय) का अभाव होकर नई वृत्ति का जन्म होता है और यह शृंखला अनंतकाल तक प्रत्येक पदार्थ में इसीप्रकार चलती रहती है इसप्रकार प्रत्येक वस्तु सदैव अस्ति-नास्ति एवं नित्य-अनित्य जैसी परस्पर-विरुद्ध अनंतशक्तिमय है, जिनके कारण वस्तु का वस्तुत्व सुरक्षित रहता है इसप्रकार प्रत्येक वस्तु की यह परस्पर-विरुद्ध अनंतशक्तिमयता ही महावीर दर्शन का अनेकांत है।

महावीर आत्मवादी-महापुरुष हुए, अत: उनके अनेकांत-दर्शन की सम्पूर्ण-उपयोगिता भी आत्मा के लिए है। 'अनेकांत' सत्य एवं असत्य का समझौता नहीं कराता, वरन् अनैकांतिक-ज्ञान का सम्पूर्ण-व्यवसाय सत्य एवं यथार्थ में ही होता है और वह आत्मा को पतित-भूमिकाओं से उठाकर पवित्रतम-भूमिका में स्थापित कर देता है।

'अनेकांत' के आलोक में जब आत्मा विश्व-व्यवस्था का अवलोकन करता है, तो उसे विदित होता है कि समग्र-विश्व की अत्यन्त स्वतंत्र-व्यवस्था में कोई पदार्थ मेरा 'कर्म' नहीं है और मैं उसका 'कर्त्ता' अर्थात् स्वामी नहीं हूँ इसीप्रकार मैं किसी पदार्थ का 'कर्म' नहीं हूँ और वह मेरा 'कर्त्ता' नहीं है मेरा आनन्दमय-चैतन्य अर्थात् मेरा आत्मा ही मेरा है और वही मेरा सर्वस्व है इसी चिंतन-धारा में वह अपने को समग्र-विश्व के कर्तृत्व के महाभार से मुक्त अनुभव करता है। अत: अज्ञान से उत्पन्न कर्तृत्व के बीच से अत्यन्त-व्याकुल, खिन्न एवं विकीर्ण अपनी बोधि को समेटकर अपने सुधासिंधु-चैतन्य में समाहित कर लेता है और उस सुधासिंधु-आनन्द का अविरल-रसास्वादन करता है। महावीर के दर्शन में यही साधक की समाधि एवं योगमुद्रा है और इसकी पराकाष्ठा ही मुक्ति है।

महावीर की बहुचर्चित-अहिंसा की आधारशिला भी इनका अनैकांतिक-दर्शन ही है आज महावीर की अहिंसा 'जिओ और जीने दो' के वायुमंडल में प्रतिबद्ध होकर जीवन की संरचना में निष्प्राण हो गई है अहिंसा के संदर्भ में महावीर ने कहा है कि अनैकांतिक-वस्तुव्यवस्था में एक जीव के जीवन पर दूसरे जीव का कोई अधिकार नहीं है, अत: किसी जीव के परिपीड़न अथवा रक्षा का अहंकार कर, उससे उत्पन्न राग-द्वेष की वृत्तियाँ मिथ्या हैं एवं उनसे अपनी आत्मा का ही घात होता है अतएव राग-द्वेष वृत्तियाँ ही हिंसा हैं अहिंसा के इस भव्य-स्वरूप का परिज्ञान होने पर आत्मा अपनी उन मिथ्या एवं अकिंचित्कर-वृत्तियों से अनासक्त होकर उन्हें विराम देता है और लौटकर अपने चैतन्य में ही तन्मय होता है, अत: भगवती अहिंसा की आनंदमयी-भूमिकाओं पर आरोहण करता हुआ अहिंसा की चरमावस्था-मुक्ति अथवा परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है। महावीर की आत्मा की इस उच्चतम एवं पावन-अवस्था को ही परमात्मा कहते हैं, और यही महावीर के अनेकांत-दर्शन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

सचमुच यह जैनदर्शन का अनेकांत-सिद्धांत ही है, जो समस्त भारतीय-दर्शनों से अलग पहिचाना जाता है।

भगवान महावीर 'वर्द्धमान' मोक्षगामी ऐतिहासिक-महापुरुष हुए हैं, उनके अंतरंग एवं बहिरंग वास्तविक-जीवन का अनेक-विद्वानों तक को परिचय न होने के कारण उनके संबंध में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न करते हैं और उनको जैनधर्म का जन्मदाता मानते हैं, जबकि निष्पक्ष ऐतिहासिक विद्वान् तो महावीर के पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ को भी ऐतिहासिक-पुरुष मानने लगे हैं, धर्म तो सदैव

कुदरती त्रैकालिक सत्य होता है, इसलिए उसका कभी नया जन्म नहीं होता। केवल भगवान् महावीर जैसे महापुरुष समय-समय पर उत्पन्न होकर सत्य-धर्म का पुनरुत्थापन किया करते हैं। भगवान् महावीर से पूर्व जैनधर्म के प्रणेता भगवान् आदिनाथ से लेकर 23 तीर्थंकर आज भी निष्पक्ष-समालोचकों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं।

इस युग के प्रथम-तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ का तो जिन एवं जैनेतर पुराणों में शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि नामों से पुकारा गया है और उपनिषदों में भी भगवान् महावीर का वर्णन नग्न-दिगम्बर परम-वीतराग-पुरुष के रूप में उपलब्ध होता है।

यह बात तो सभी भारतीय-दर्शनों को निर्विवाद रूप से स्वीकार होगी कि धर्म सत्य की ही पर्याय होता है और जगत् के जड़-चेतन-पदार्थों की स्वयंसिद्ध-व्यवस्था उसका आधार होती है। लोक में भी उसी बात को सत्य माना जाता है, जो वस्तु का सही प्रतिपादन करती है, जैसे मनुष्य एक वस्तु है, अब उसे यदि कोई व्यक्ति पशु मानता है, तो उसी को असत्य कहते हैं। इसीतरह भगवान् महावीर और उनके सदृश्य जितने भी तीर्थंकर, अरिहंत-महापुरुष हुए उन्होंने भी बताया कि सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् यथावत् अनादिकाल से अवस्थित है केवल वस्तु अपने अस्तित्व को सदैव बनाये रखकर पर्यायों में अनादि-अनन्त स्वयमेव ही नाना-परिवर्तन किया करती है।

प्राय: सभी दर्शन यह भी स्वीकार किया करते हैं कि जिस वस्तु का अस्तित्व सदा से ही किसी भी रूप में न हो अर्थात् वह सर्वथा असत् हो तो विश्व की कोई भी शक्ति चाहे वे विश्व के द्वारा माने जाने वाले परमात्मा ही हो, असत् वस्तु को किसी भी तरह पैदा नहीं कर सकते; क्योंकि वस्तु असत् होने के कारण उसकी संपूर्ण-सामग्री

का भी अभाव होना चाहिए। इसलिए आकाश के पुष्प की तरह सर्वथा असत् होने के कारण उसे कोई भी शक्ति पैदा करके उसे अस्तित्व नहीं दे सकती। दूसरा अर्थ यह हुआ कि विश्व के जड़-चेतन सारे पदार्थ अपने-अपने अस्तित्व की सीमा में पूरीतरह स्वतंत्रता से रहते हैं और अनंतकाल तक रहते रहेंगे, इसीलिए सृष्टि की कोई भी महान्-शक्ति उनकी उत्पादक नहीं हो सकती, इसप्रकार सुयुक्तियों के द्वारा अंधविश्वास को एक ओर रखकर जैनधर्म ने सम्पूर्ण अनंत जड़-चेतनरूप सृष्टि को स्वयंसिद्ध, अकृत और अनादि-अनंत स्वीकार किया है, इससे यह भी फलित हुआ कि जगत का प्रत्येक जड़-चेतन-पदार्थ अपनी सीमा से बाहर निकलकर किसी दूसरे की सीमा में अतिक्रमण करके उसे कभी भी बाधा नहीं देता। सृष्टि की इस स्वतंत्र-व्यवस्था के आलोक में जैनदर्शन ने और उसके तीर्थंकर जैसे महापुरुषों ने यह घोषणा की कि वस्तु-व्यवस्था के विपरीत किसी पदार्थ को किसी पदार्थ का साधक अथवा बाधक तथा इष्ट और अनिष्ट मानकर उसे मिथ्या-ममत्व के द्वारा अपने अधिकार में लेने की चेष्टा ही अज्ञान का भयंकर अपराध है और अज्ञान के साथ जगत् के किसी भी पदार्थ के प्रति चेतन अथवा आत्मा के द्वारा अनधिकार से किया जाने वाला ममत्व ही विश्व का सर्व घोर अपराध है, यद्यपि आज तक किसी आत्मा के द्वारा किया जानेवाला निजी-वस्तु पर अपना अधिकार घोषित करनेवाले यह अज्ञान और ममत्व सार्थक नहीं हुए; किन्तु आत्मा ज्ञान-स्वरूप चेतन पदार्थ होने के कारण स्वयं इस अज्ञान में बदनियत होकर परिणत होता है और इसीलिए उस भयंकर-अपराध के फलस्वरूप उसे अनगिनत महान्-संकटों का सामना करना पड़ता है।

सच्चाई तो यह है कि अपने द्वारा बदनियत अथवा दुष्ट अभिप्राय से उत्पन्न यह अज्ञान अथवा ममत्व अनादिकाल से आज तक भी विश्व के एक भी पदार्थ को सृष्टि अथवा जगत को, जो कि स्वयं अत्यन्त स्वतंत्र होने के कारण अपना परमेश्वर है, को अपने अधिकार नहीं ले पाया, फिर भी लोक के विधान की तरह आत्मा को अनन्त-कष्ट उठाने ही पड़ते हैं, क्योंकि सजा कार्य की नहीं होती; बल्कि बदनियत की होती है। किसी ड्राइवर से सड़क पार करता हुआ कोई बालक मर जाये, तो सजा ड्राइवर को नहीं होती, क्योंकि दोष बालक का है और चूँकि ड्राइवर की बालक को मारने की नियत बिल्कुल नहीं थी, इसलिए वो निरपराध माना जाता है। यद्यपि उसके द्वारा बालक की मृत्यु जैसा दयनीय और शोचनीय-कार्य तो हुआ है। वस्तु-व्यवस्था के इस प्रकाश में महावीर ने एक न्यायाधीश की तरह अत्यन्त वीतराग होकर यह संदेश विश्व को दिया कि ज्ञान से विभूषित होने पर भी आत्मा अज्ञान और ममत्व जैसे जो अपराध करता है, वह कुदरत के विधान का उल्लंघन करनेवाला वह आत्मा अपराधी होता है, अतः महावीर ने कहा कि ज्ञान से विभूषित जगत् के प्राणियों! इस परम-सत्य को स्वीकार करो कि अपनी परमसुंदर, स्वतंत्र, अक्षय और अनंत-शक्ति सम्पन्न आत्मा का भयंकर-अन्य पदार्थों के प्रति ममत्वशीलरूप महा-अपराध को यदि तत्क्षण छोड़ देते हो, तो तुम स्वयं ही परम शान्ति, आनंद-स्वरूप परमात्मा हो और सदा ही अपने भीतर से उत्पन्न हुए आनंद का भोग करते रहोगे और यही वास्तविक सुखमय, मंगलमय मुक्ति है, जिसके आनंद में अनंत-भविष्य में भी कभी कोई परिवर्तन नहीं होता।

❁❁❁

# महावीर

(अतुकान्त)

(1) आज परिवर्तन क्यों ?
खेल ही रहा था कल तो हास मुख-मंडल पर विधर्मियों के
भाग्य के विधाता थे मूक पशुओं के कल
होम-यज्ञों में उन्हें स्वर्ग पहुँचाते थे।
कमाते थे अक्षय-पुण्य
आज-सहसा ही मुख म्लान क्यों ?

(2) आज कोलाहल है दश ही दिशाओं में
क्षुब्ध हुआ दिग्-दिगंत
प्राची का सूर्य आज म्लान है
सोचा लोगों ने
है! सूर्य है यह
इतना म्लान, इतना त्रस्त
ग्रस लिया हो हाय! जैसे राहु ने
अरे! सूर्य कहाँ ?
सूर्य तो छलका है आज त्रिशला की गोदी में।

(3) कंपित देवेश हुए
सोचा
हुआ है जन्म आज मध्य-लोक में
किसी पुण्यशाली का
चल पड़े सुरेंद्र-सुर-सुरांगना
सहज दुंदुभी-घोष
दे रहा चुनौती था विधर्मियों को
सर्वत्र मंगलगान
वीर का विजयनाद

सुरभित था दिग्-दिगंत
स्वर्णिम स्वर्ग-आभा आज उतरी थी धरा पर ज्यों।

(4) कौन ईश-अवतार हुआ था आज?
कंपित हुआ लोक जिसकी तेजस्विता से
ईश अवतार था वह? नहीं
स्वर्गों का सुरेंद्र था क्या, देव इन्द्र जाली था क्या?
नहीं-नहीं
मात्र कर्म-भूमि का, हिंसा की भूमि का,
पैशाची-वसुंधरा का
छोटा-सा बालक था वह,
छोटा-सा मानव था वह।

(5) युग कैसा था किंतु
सत्य-अहिंसा तो कर चुकी थी प्राण-त्याग
जल चुकी, मर चुकी, बुझ भी चुकी थी मानो
उठ न सकेगी कभी
मूक-पशुओं का वह अहिंसात्मक सत्याग्रह
हिंसा से फलित थे स्वर्ग
धर्म के पोषण में प्राणों का शोषण था,
चेतन से चेतनता त्रस्त थी पीड़ित थी।।

(6) उमड़ उठे वीर अरे!
कैसी भ्रष्ट-निष्ठा यह
म्लान-प्रतिष्ठा यह
शांति चाहते हो विश्व?
स्वर्ग चाहते हो विश्व, पशुओं के प्राणों में!
सावधान हुए वीर, निर्भय, निशंक और
बढ़ चले एकाकी।।

(7) हिंसक-जनों पर क्या खंग था चलाया?
नहीं, हिंसा को हिंसा से मिटाना तो हिंसा है
अरे! हिंसा है हिंसक की, हिंसा पर क्षुब्ध होना
आत्मा तो प्रांजल अहिंसक-चेतना है
अहिंसा है नित्य ही उसमें केलि करना
हिंसा का केन्द्र एक राग है विश्व में
राग ही हिंसा है 'तीर्थंकर-दर्शन' में,
अतएव राग से अंतर को रीता कर
तत्त्व को कसकर 'स्याद्वाद' की कसौटी पर
वीर-वर्धमान अन्तः सलिला में डुबकी ले
बहते ही चले गये
हँसते ही चले गए,
कोटि-कोटि यंत्रणायें सहते ही चले गये।

(8) अन्तस् में पावनता
वचनों में माधुर्य
काय में अलौकिक-शौर्य
स्तंभित थे विरोधी-गण
धन्य विश्वप्रेमी स्याद्वादी, हे अलौकिक-जन!
विरोधी शान्त हुए
हिंसा, असत्य, एकांत, उद्भ्रांत हुये
पशुओं को त्राण मिला
अहिंसा को प्राण मिला
जग को वरदान मिला
आज सफल हुआ विश्व तेरी प्रतीक्षा में
सत्य-अहिंसामय-जीवन की दीक्षा में।

# आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनका प्रदेय

**श्र**मण-संस्कृति के 'मुकुटमणि' आचार्य कुन्दकुन्द-दिगम्बर-मूल-परम्परा के 'वज्रकवच' हैं। दो हजार वर्ष से जैन-क्षितिज पर चमकते-दिनकर कुन्दकुन्द ने अपनी प्रभा से शासन की धवल-कीर्ति को जीवित रख इसका शीर्ष ऊँचा किया है। इनके सर्वाधिक-गरिमामय यशस्वी-जीवन का प्रबल-प्रमाण यह है कि उन्हें भगवान् महावीर और गौतम गणधर के ठीक बाद मंगल के रूप में स्मरण किया जाता है। यह एक अबाधित-सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द तो दिगम्बर-धर्म की मुद्रा ही बन गये हैं।

अध्यात्म-श्रुत-शिखर के 'नींव-प्रस्तर' भरतक्षेत्र के जन-मन को 'आत्मविद्या' का पाठ पढ़ानेवाले आचार्य कुन्दकुन्द इतिहास के पृष्ठों पर अपनी विशिष्ट-पहिचान बनाये हुए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ज्ञानसिन्धु से प्रवाहित अध्यात्म की अजस्रधारा आज भी इस धरती को समृद्ध बना लोक-मांगल्य की ओर ही बढ़ा रही है। साहित्य-धारा की सृजन-शृंखला में गद्य की अपेक्षा पद्य में भावाभिव्यक्ति-क्षमता अधिक होने से 'काव्य' को ही उन्होंने अपने साहित्य-प्रणयन का माध्यम बनाया और 'जैन-साहित्य-कोष' को विपुल-काव्य-भण्डार देकर इस विश्व को उपकृत किया है। सचमुच कुन्दकुन्द की 'आत्मविद्या' का यह अशोक-वृक्ष 'मूलाम्नाय' को छाया देने में मजबूत-जड़ोंवाला तरु है।

'मूलसंघ-परम्परा' भगवान् वीरनाथ के पश्चात् अर्हद्बलि, माघनन्दि, कुन्दकुन्द आदि आचार्यों-पर्यन्त अविरुद्धरूप से विक्रम की पहली शती तक चलती रही। इसी बीच अंतिम-श्रुतकेवली भ्रदबाहु के समय कुछ संघ-विच्छेद देखे गये। असह्य-दुर्भिक्ष से पीड़ित-साधुजनों में शिथिलाचार की दुष्प्रवृत्तियाँ काँटों-सी पनपने लगीं, सम्प्रदाय व एकान्त-अविद्या-मतवाद के घेरे में चारित्र-धर्म की श्वासें घुटने लगीं, धर्मान्धता-धर्मारूढ़ हो अपना ताण्डव दिखाने लगी, ऐसे विषम-समय में मूलसंघ की डोर अपने हाथों में लेकर यति-कुन्दकुन्द ने परिशुद्ध-चारित्र धर्म एवं मूल-आचार-संहिता की पुनः स्थापना कर इसकी सुरक्षा की और वे बड़े कड़क-शब्दों में कहते हैं ''विकृत-आचरण करनेवाले 'नटश्रमण' हैं।''

दिगम्बर-आम्नाय-मूलाम्नाय ही कही जाती है, मूल का अर्थ-प्रधान एवं जड़ भी होता है। जैन-श्रावक व साधु की कसौटी मूलगुण होती है और वह मूल-परम्परा का अनुगामी होता है। प्राचीन-शिलापट्टों एवं पौराणिक-प्रतिमाओं पर 'मूलाम्नाय' 'कुन्दकुन्दान्वय' के लेख प्राप्त होते हैं। जिनसे इस शुद्ध-परम्परा की प्राचीनता-प्रमाणित हो जाती है। जैसे मूल के बिना वृक्ष व शाखा की उत्पत्ति संभव नहीं, वैसे ही मूल-मार्ग बिना 'परमार्थ' की उत्पत्ति असंभव है।

मूर्तमान इस प्रदेय से उनके अर्न्तमुखी-व्यक्तित्व का अंकन कर लेना कठिन नहीं, उनकी दार्शनिकता व साहित्य में समग्र ही व्यक्तित्व उजागर हुआ है। वे ऋद्धिप्राप्त-महामुनि थे, बाल-दीक्षित थे, विलक्षण-प्रज्ञा-सम्पन्न थे। इतना मात्र उनके व्यक्तित्व का पैमाना नहीं, वरन् मुख्यतः इसलिए कि उन्होंने जन-जीवन के उत्थान-हेतु अध्यात्म की व्यापक-दृष्टि, शाश्वत-सुख के अकाट्य-समाधान दिये, जिन्हें पाकर मृतक-

कलेवर को मानों प्राणवायु ही मिली है। सच उनके व्यक्तित्व का भावपक्ष जितना पवित्र व धवलधरा-सा स्वच्छ है, द्रव्य-पक्ष भी कोमल भावनाओं से आच्छादित पूर्णमासी के चन्द्र-सा श्वेत है। आपके इस व्यक्तित्व व साहित्य की गोदी में अनेक निर्ग्रन्थ-संतों को विश्राम मिला है।

परवर्ती-आचार्यों की सम्मान-मंजूषा से अलंकृत आचार्य कुन्दकुन्द सहस्रों श्रमणों के श्रद्धा-केन्द्र बने हुए हैं, 'दर्शनसार' में देवसेनाचार्य लिखते हैं—

विदेहक्षेत्र-स्थित सीमधंरस्वामी से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ (श्री कुन्दाकुन्दाचार्य) ने बोध न दिया होता, तो मुनिराज सच्चे-मार्ग को कैसे प्राप्त करते?

## परम्परा में कुन्दकुन्द का उदय

श्रुत-परम्परा की अटूट-धारा में तीर्थनायक-वीरनाथ के निर्वाण के पश्चात् गौतम गणधर, सुधर्माचार्य एवं जम्बूस्वामी—ये तीन केवली एवं विष्णुनंदि, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन एवं भद्रबाहु—ये पाँच श्रुतकेवलियों का अवतरण हुआ। दस-पूर्व के ज्ञाता ग्यारह आचार्य एवं ग्यारह-अंगधारक पाँच आचार्य हुए तथा एक आचारांगधारी-आचार्य हुए। श्रुतधारियों के पश्चात् किसी को एक अंग का ज्ञान, किसी को अंग के एक हिस्से का ज्ञान, किसी को एक पूर्व का और किसी को पूर्व के एक हिस्से का ज्ञान—ऐसे भिन्न-भिन्न क्षयोपशम की योग्यता के धारक आचार्य हुए। सत्य भी है कि तीर्थकरों के समय ज्ञान उत्कर्ष पर होता है, बाद में उसका ह्रास होता जाता है।

इसप्रकार 683 वर्ष तक श्रुत की मौखिक-परम्परा चली। अंगों व पूर्वों का एकदेश-ज्ञान आचार्य-परम्परा से आकर आचार्य धरसेन को प्राप्त हुआ। आचार्य धरसेन 'गिरिनगर' (सौराष्ट्र) की 'चंद्रगुफा' में

ध्यान करते थे। इनका समय विक्रम की दूसरी-शताब्दी संवत् 144 अथवा ईस्वी की पहली-शताब्दी सन् 87 माना गया है। सिद्धान्त के सिद्धहस्त-साधक आचार्य धरसेन को 'अग्रायणी-पूर्व' के पाँचवे 'वस्तु-अधिकार' के 'महाकर्म-प्रकृति' नामक चौथे-प्राभृत का ज्ञान था, 'आचारांग' के पूर्ण-ज्ञाता एवं धवलानुसार अंगों व पूर्वों के एकदेश-ज्ञाता थे। कालदोष से जीवों की बुद्धि का उत्तरोत्तर-ह्रास होता जान उन्होंने निमित्तज्ञान से यह जाना कि मेरी आयु-अल्प रह गई है, मेरा यह ज्ञान मेरे साथ ही क्षीण हो जानेवाला है, तब उन्हें श्रुतदेवता की सुरक्षा का समर्थ व करुण-विकल्प आया कि मुक्ति का प्रदाता, श्रुत का विशद-ज्ञान किसी सुयोग्य-पात्र को मिलना चाहिए। उसी समय 'आंध्रप्रदेश' की 'महिमानगरी' में मुनि-सम्मेलन चल रहा था, वहाँ के संघपति महासेनाचार्य अथवा अर्हद्बलि को आचार्य धरसेन ने पत्र लिखाया कि विद्या-ग्रहण में कुशल, निर्मल-ज्ञान-सम्पन्न, विनयवंत दो मुनिपुंगव को चुनकर यहाँ भेजिये, आचार्य ने श्रुत में पारगंत दो मुनिश्रेष्ठ 'नरवाहन' एवं 'सुबुद्धि' (भूतबली-पुष्पदन्त) को आचार्य धरसेन के पास भेजा।

ज्ञानोदधि आचार्य धरसेन ने विद्या द्वारा उनकी परीक्षा कर योग्य-पात्र जान सम्पूर्ण-सिद्धान्त का शिक्षण देकर इसे लिपिबद्ध करने को कहा था, श्रुत का यह अभ्यास 'आषाढ़ शुक्ला एकादशी' को पूर्ण हुआ। दोनों आचार्यों ने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर उनके द्वारा प्रदत्त-बोध से षट्खंड-आगम का लेखन पूर्ण कर विशालकाय 'प्रथम-श्रुतस्कन्ध' अनमोल मणि के रूप में प्रदान किया। यह पुनीत-लेखन 'ज्येष्ठ-शुक्ल-पंचमी' को पूर्ण हुआ। **'प्रथम-श्रुतावतार आचार्य धरसेन के एक विकल्प का वरदान है।'**

धरसेन आचार्य के लगभग ही सिद्धान्त के धारक धीर आचार्य गुणधर हुए, इन्हें 'ज्ञानप्रवाद' पूर्व के दसवें-वस्तु अधिकार के तीसरे प्राभृत (कषायप्राभृत) का ज्ञान था, इन्होंने 'कषायपाहुड' सूत्र रचे। इसी पुनीत-परम्परा में सरस्वती के नंदन आचार्य वीरसेन स्वामी का उद्भव हुआ। छह खण्डों पर 72,000 श्लोक-प्रमाण प्राकृत व संस्कृत टीका (धवल, महाधवल) तथा कषाय-प्राभृत की 4 विभक्तियों पर 20,000 श्लोक-प्रमाण टीका इसप्रकार कुल 92,000 श्लोक-प्रमाण टीका अकेले आचार्य वीरसेन का दीर्घकाय-लेखन है, **जो दिगम्बर-इतिहास का ही नहीं, बल्कि विश्व का एक कीर्तिमान है।** 'महाभारत' का परिमाण एक लाख श्लोक-प्रमाण कहा जाता है; पर वह किसी एक पुरुष की रचना नहीं है। इसी 'कषायप्राभृत' पर शेष 40 हजार श्लोक-प्रमाण टीका (जयधवला) उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने लिख इसे पूर्ण किया। गुणधर-आचार्य के शिष्य नागहस्ति-मुनि एवं आर्यमंक्षु ने इस सिद्धान्त का अध्ययन कर यतिवृषभ को सौंपा, उन्होंने छह हजार 'चूर्णिसूत्र' लिखे, उन पर बारह-हजार सूत्र-प्रमाण रचना 'समुद्धरण' नामक मुनि द्वारा हुई। ऐसे अनेक **सिद्धान्त-पारगामी-आचार्यों द्वारा प्रदत्त आगम का यह प्रासाद सत्यम्-शिवम्-सन्दरम् का अद्भुत-संगम है।**

आचार्य धरसेन के लगभग ही प्रबल-मेधावी आचार्य कुन्दकुन्द इस भारत-भू पर विचरण कर रहे थे। जिस समय 'षट्खण्डागम' सिद्धान्त-सूत्र का लेखन सिद्धान्त-सूरि पुष्पदंत एवं भूतबली द्वारा किया जा रहा था, उसी समय आचार्य कुन्दकुन्द को सिद्धान्तगुरु-परिपाटी में अध्यात्म के प्रणयन का सशक्त-विचार आया, क्योंकि उन्हें अपने निर्मल-ज्ञान से यह विदित हो चुका था कि यह ज्ञान का

स्रोत धीरे-धीरे अवरुद्ध हो जानेवाला है, **अतः बोधिबुद्ध कुन्दकुन्द ने श्रुतधारा के प्रधान-अंग 'परमागम' को ताड़पत्रों में लिपिबद्ध कर भरतक्षेत्र में द्वितीय-श्रुतस्कन्ध की प्रतिष्ठाकर मुक्तिद्वार खोल दिया।**

सूरि कुन्दकुन्द को आचार्य-परम्परा में पाँचवें 'ज्ञानप्रवाद-पूर्व' के बारह वस्तु-अधिकारों में से एक-एक के बीस प्राभृत-अधिकार में, दसवें वस्तु में, 'समय' नामक जो प्राभृत है, उसके अर्थ का ज्ञान था। इसी प्राभृत-ज्ञान को आधार बना उन्होंने इसे 'पंच-परमागम' प्राभृत-पात्र में भर दिया। आगम का सार अध्यात्म में छुपा होता है, अतः आगम व अध्यात्म का प्राण शुद्ध-चैतन्य को ही उन्होंने अपनी लेखनी का मुख्य-बिन्दु चुना। **आगम के साथ कुन्दकुन्द का यह परमागम स्वर्ण-सौरभ-योग था।**

वस्तुतः आगम की शैली पर्यायार्थिक एवं व्यवहारनय-प्रधान होती है, अतः उसमें से परमार्थ-मोक्षमार्ग की विधि निकाल पाना अल्पबुद्धि-सामान्यजन द्वारा संभव नहीं, उसकी परिस्पष्ट-विवेचना परम-अध्यात्म स्वरूप-परमागम में ही होती है। इसी दृष्टिकोण को आपने अपने करुण-हृदय में स्थान दिया और भरतक्षेत्र की बंजरभूमि पर 'अध्यात्म-वाटिका' का बीजारोपण कर इसकी जड़ों का सिंचन किया। इस पर खिले 'परमागम' की शीतल- छाया अनेकों मुनिवरों एवं अज्ञ-प्राणियों को मुक्ति की राह देती रही है।

## जीवन-दर्शन

लोकैषणा व लोक-सन्निधियों से दूर महापुरुष कुन्दकुन्द का जीवन-प्रतिष्ठा, नाम व यश की लिप्सा से परे निखरे हुए स्वर्ण-समान है। सच भी है निरुपाधि-गृह में रहनेवाले को यह, उपाधियाँ कैसे सह्य हों,

अत: उन्होंने अपनी मौलिक नैसर्गिक-रचनाओं में भी जन्म, नामादि एवं व्यक्तित्व-संबंधी किसीप्रकार के विवरण प्रस्तुत नहीं किये और जो संक्षिप्त-सा परिचय प्राप्त है, वह प्रशस्तियों, पाण्डुलिपियों, ऐतिहासिक-शिलालेखों पत्रादि की ही देन समझना चाहिए।

बालरत्न कुन्दकुन्द का जन्म विक्रम की प्रथम-शताब्दी ईसापूर्व 108 संवत्सर के 'माघ-मास' के शुक्लपक्ष की पावन-पंचमी को 'पेडथनाडू' या अनंतपुर-जिले में स्थित 'कौण्डकुन्दपुर' या 'कोणकुंडल' (आंध्रप्रदेश) नामक ग्राम में 'गुणकीर्ति-श्रेष्ठी' एवं माँ 'शान्तला' के गर्भ से हुआ। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की लोकोक्ति को सार्थक करनेवाला यह 'कोमल-किसलय' ज्ञान व वैराग्य की हिडोंले लेता चन्द्रकला-सा वृद्धिंगत होता रहा। गर्भ-समय माँ ने स्वप्न में श्वेत-चाँदनी देखी, संभवत: इस आधार पर इनका जन्म-नाम 'पद्मप्रभु' रखा गया। पूर्व-संस्कारों का 'श्रुत' पुरस्कार लेकर जन्मा यह बालक पलने में '**शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसारमाया-परिवर्जितोऽसि**' की मधुर-लोरियाँ सुन शांत व गंभीर हो जाता था। ऐसे बाल्यदशा के कुछ वर्ष ही बीते थे, संस्कार व भाषा का शिक्षण दिया जा रहा था कि जिनकांची-संघ के वयोवृद्ध आचार्य अनंतवीर्य, जो कि अष्टांग-निमित्त ज्ञाता थे, दक्षिण-भारत में उनका विहार होता था। विहार करते हुए वे 'पेनगोंडे-संघ' के 'आचार्य जिनचंद्र' के साथ 'कौण्डकुन्दपुर' नगर की ओर पधारे, बालक के अतिशय-ज्ञान व गुणों की गौरव-गाथा सुन उसे बुलवाया, तो उसकी चातुर्यता, सौम्यमुद्रा, तीक्ष्णप्रज्ञा पर आश्चर्यचकित से रहे गये और उनके पिता को यह बालक '**श्रुत का जनक विख्यात-मुनि बनेगा**' ऐसा शुभ-सन्देश देकर विहार कर गये।

कुन्दन-से कुन्दकुन्द ने ग्यारह-वर्ष की बालक्रीड़ावय में ही प्रचण्ड-तप की अग्नि में अपने अर्न्तबर्हि-चारित्र को तपाकर मुनिधर्म का उच्चतम-आदर्श श्रमण-समूह के समक्ष प्रस्तुत किया और वे भगवती-दीक्षारथ में आरूढ़ हो निर्जन-वन की ओर चल पड़े।

कुन्दकुन्द ने अपने दीक्षा-गुरु का उल्लेख यद्यपि कहीं नहीं किया, फिर भी कई प्रामाणिक-स्रोतों, अभिलेखों से गुरु-नामोल्लेख प्रकाश में आये हैं। नंदिसंघ के बलात्करणगण की पट्टावली के आधार पर ज्ञात होता है कि **आचार्य जिनचन्द्र** कुन्दकुन्द के दीक्षा-गुरु थे और इसी संघ द्वारा आपको 'मुनि पद्मनंदि' नाम से विभूषित किया गया। 'पंचास्तिकाय' की टीका में जयसेनाचार्य ने कुमारनंदि-सिद्धान्तदेव को आपके मूलगुरु के रूप में स्वीकार किया है, 'बोधपाहुड' के आधार पर कुछ मनीषी आचार्य कुन्दकुन्द को 'भद्रबाहु का शिष्य' मानते हैं और ईसापूर्व तृतीय शती के समकालीन मानते हैं; किन्तु अन्य पुष्ट-प्रमाणों में अंतिम-श्रुतकेवली स्वामी-भद्रबाहु को 'गमकगुरु' के रूप में स्वीकारा है।

'नंदिसंघ' की 'गुर्वावली' के लेखानुसार आचार्य 1. श्रुतकेवली भद्रबाहु, माघनन्दि-प्रथम, जिनचन्द्र और इनके शिष्य कुन्दकुन्द (पद्म-नंदि) थे और ये आचार्य उमास्वामी के गुरु थे।2. यह 'नंदिसंघ' आचार्य अर्हद्बलि द्वारा वीर-निर्वाण सं. 593 में स्थापित हुआ था, 'मूलसंघ' में 'नंदिसंघ' हैं, उसमें अतिरम्य-बलात्करगण है, उसमें अपूर्व-पंदाशवेदी नरसुरवंद्य 'माघनंदि' आचार्य हुए हैं, उनके शिष्य मुनिमान्य 'जिनचन्द्र' और उनके शिष्य पंचनामधारी श्री 'पद्मनंदि'-मुनिचक्रवर्ती हुए है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' की पहली गाथा में ''सुदकेवली-भणिदं'' लिख श्रुतकेवली को साक्ष्य के रूप में स्मरण किया है।

मुनिपद्मनंदी पद्म-सरोवर में क्रीड़ा करते चैतन्य से उत्पन्न आनन्द की घूँट पीने में व्यस्त थे, मुनिदशा के तैंतीस वर्ष पूर्ण होने जा रहे थे, तभी चतुर्विधसंघ ने 44 वर्ष की आयु में इन्हें संघ के 'अधिष्ठाता' पद पर आसीन कर दिया। आचार्य-पद का समय ईसापूर्व 64, मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी, गुरुवार माना गया है। परम-समाधि जिन्हें सदा ही इष्ट थी, ऐसे मुनिनाथ 95 वर्ष 10 माह व 15 दिन की आयु पूर्ण कर ईसापूर्व 12 में समाधिस्थ-अवस्था में नश्वर-देह को छोड़ सदा के लिए प्रयाण कर गये।

**सार्थक पचंनाम**—कुन्दकुन्द, पद्मनंदि, गृद्धपिच्छाचार्य, एलाचार्य एवं वक्रग्रीवाचार्य—पंचनाम कुन्दकुन्द के पवित्र निस्पृही-जीवन का स्पर्श पाकर अपनी सार्थकता प्रगट कर रहे हैं।

'कौण्डकुन्दपुर' के वासी होने से आप 'कुन्दकुन्द' नाम से आदि से अंतिम-जीवनकाल तक ख्यातिप्राप्त करते रहे। 'नंदिसंघ' में दीक्षित होने से आपका मूल-दीक्षानाम 'पद्मनंदि' रखा गया। विदेह से लौटते समय आपकी मयूर-पिच्छिका गिर गई थी, अत: सामायिक-काल में साधन-हेतु गृद्धपक्षी के पंख की पीछी लेकर भरतक्षेत्र लौटे, तभी से 'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम से प्रचलित हो गये। विदेहक्षेत्र में समवसरण के मध्य धनुषों प्रमाण कायावाले मनुष्यों की तुलना में बहुत छोटे-आकार के होने के कारण 'एलाचार्य' नाम से वन्दन किया, अत: 'एलाचार्य' नाम से पुकारा जाने लगा। सिद्धान्त-सूत्र के अध्ययन व ध्यान की प्रचुरता से गर्दन कुछ टेढ़ी हो गई थी, तभी से 'वक्रग्रीवाचार्य' नाम से प्रख्यात हुए।

'षट्-प्राभृत' के संस्कृत-टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने इन्हें उपरोक्त पाँच नाम से अभिहित किया है। श्रवणबेलगोला की अनेक-प्रशस्तियों

में इन्हें 'कौण्डकुन्द' कहा है। 'नंदिसंघ' से संबंधित 'विजयनगर' के शिलालेख में पद्य मिलता है—

**आचार्य-कुन्दकुन्दाख्यो, वक्रग्रीवो महामुनिः।**
**एलाचार्यो गृद्धपिच्छ, इति तन्नाम पञ्चधा।।**

नंदिसंघ-पट्टावलि में छन्द की निचली-पंक्ति इसप्रकार मिलती है **'ततोऽभवत् पञ्चसुनामधामा, श्रीपद्मनंदी मुनिचक्रवर्ती'।** बारसाणुवेक्खा, गाथा 91 में स्वयं कुन्दकुन्द अपना नाम 'कुन्दकुन्द' ही लिखते हैं। जैन-इतिहास पर स्वर्णिम-अक्षरों से उकेरे जाने वाले 'मुनि-मण्डलेश्वर' के ये नाम सार्थक व गरिमामय हैं।

## विदेह-गमन

आचार्य कुन्दकुन्द का जीवन अनेक प्रेरक-प्रभावी-घटनाचक्रों से भरा पड़ा है, किन्तु घटनाओं के ये परिवर्तन उनके निर्ग्रन्थ-पंथ में तनिक भी प्रभाव नहीं डाल पाये, वरन् उनकी स्वरूप-साधना का ही परिचय देते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द को चारणऋद्धि प्राप्त थी, उनके जीवन में एक सातिशय असाधारण-घटना घटी और वे सदेह 'विदेह' पहुँच गये। आठ दिवस वहाँ निराहार रहे और विहरमान-तीर्थंकर भगवान् सीमंधर की दिव्यवाणी सुनी—यह उपलब्ध-प्रमाण से ज्ञात होता है। यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द ने विदेहगमन-संबंधी-चर्चा एवं घटनाओं को अपने मूल-ग्रन्थों में कहीं उद्घाटित नहीं किया; क्योंकि प्रथम तो जीवन की प्रत्येक विशेष-घटना उल्लेख के योग्य नहीं होती और यदि वे अपने विदेहगमन को प्रकाशित कर भी देते, तो उसका प्रमाण प्रस्तुत करना संभव नहीं था। तथा युग की बदलती मनःस्थिति में उसका अर्थ ऐसा लगाया जाता कि वे अपने विदेहगमन के चमत्कार के बल पर स्वंय को व अपने साहित्य को मनवाना चाहते हैं। इसप्रकार

उनके साहित्य व तत्त्वज्ञान पर एक प्रश्नचिह्न लग जाता, बल्कि दिगम्बर-परम्परा का प्रतिनिधित्व ही छीन लिया जाता। सचमुच उनका अध्यात्म-सागर विदेह से लाया हुआ नहीं था, वरन् वह तो महावीर जैसे केवली-श्रुतकेवलियों से प्राप्त प्रखर-ज्ञान-प्रकाश था।

परवर्ती-आचार्यों के लेख-अभिलेख, स्तूप, प्राचीन-प्रशस्तियाँ नि:संदेह बड़ी-स्पष्टता से उनके चारणऋद्धि एवं विदेहगमन-संबंधी तथ्यों की पुष्टि करते हैं—

'श्रवणबेलगोला-शिलालेख' से--- ''निर्दोष तथा ऊर्ध्वचारित्र से जिन्हें उत्तम-चारण-ऋद्धि प्राप्त हुई थी और जिन्हें 'पद्मनंदि' ऐसा निर्दोष-नाम था, इनका ही दूसरा नाम आचार्य 'कौण्डकुन्द' था।''

आचार्य जयसेन की 'पंचास्तिकाय' टीका से --- ''**अथ श्रीकुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा---------कथ्यते।**''

'षट्-प्राभृत' के टीकाकार श्रुतसागर सूरि इन्हें 'कलिकाल-सर्वज्ञ' कहने में पीछे नहीं हटे और वे लिखते हैं—''इन पञ्चनामधारी-यति ने जमीन से चार अँगुल ऊपर आकाश-गमन-ऋद्धि द्वारा 'पूर्व-विदेह' की 'पुण्डरीकणी' नगरी में विराजित श्री सीमंधरनाथ की वंदना की थी...।'' एक लेख यह भी मिला है ---''तमिलनाडु में स्थित 'पौन्नूर' नामक ग्राम आपकी तपोभूमि रही है और वहीं से आचार्य कुन्दकुन्द विदेह पधारे थे।''

'चन्द्रगिरि-शिलालेख' में ''**वन्द्यो विभुर्भुवि---प्रतिष्ठाम्।**'' अर्थ—कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दशों दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के चारणऋद्धिधारी महामुनियों के

सुन्दर हस्त-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्र-आत्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं।''

ऐसे कथन भी मिलते हैं कि पूर्वभव के दो देव-मित्र इन्हें विदेह ले गये थे। दूसरा कथन यह मिलता है कि उग्रतप के प्रभाव से इन्हें चारण-ऋद्धि प्रकट हो गई थी, उससे ये विदेहक्षेत्र गये अथवा दो चारणऋद्धि मुनि-युगल-आकाश-मार्ग से पधारे, उन्होंने कुन्दकुन्द को स्वयं उनकी चारणऋद्धि का बोध कराया और वे उन्हें विदेह ले गये।

आपके जीवनकाल की एक अतिशय-युक्त घटना का उल्लेख शुभचन्द्राचार्य के 'पाण्डव-पुराण' में मिलता है।

**कुन्दकुन्दगणी, येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके।**
**सोऽवताद्वादिता ब्राह्मी, पाषाणघटिता कलौ।।**

गिरनार-पर्वत पर अन्यमत के आचार्य से वाद के पश्चात् आपकी महत्त्वपूर्ण-विजय हुई तथा पाषाण-मूर्ति में से निर्ग्रन्थ-धर्म की सत्यता का उद्घोष हुआ। ऐसे बहु-तथ्यों के साथ ही आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्वभव की भी एक प्रेरक-कथा 'पुण्यास्रव-कथाकोष' में मिलती है।

## आचार्य कुन्दकुन्द के प्रदेय

**भाषा**—भाषाविज्ञान की दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द ने अपना सम्पूर्ण साहित्य 'प्राकृत' भाषा में लिखा। प्राकृत उस युग की बोलचाल की भाषा थी, अतएव उन्होंने सरल, सुबोध लोकभाषा को ही अपनी रचनाओं का माध्यम चुना। 'शौरसैनी'-प्राकृत दिगम्बर जैन-आगम की भाषा कही जाती है, इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा का रूप 'शौरसैनी-प्राकृत' कहा जा सकता है।

कुन्दकुन्द की काव्य-रचनायें 'माधुर्य' एवं 'प्रासाद'-गुणयुक्त हैं। साहित्य के प्रमुख-अंग, व्याकरण, तर्क, छन्द, अलंकार आदि से भी आपके काव्य अछूते नहीं रहे; स्थान-स्थान पर यथायोग्य इनका प्रयोग हुआ है। छन्द और संगीत एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं, इन दोनों के संयोजन से आचार्य कुन्दकुन्द की विद्वत्ता एवं काव्य की निष्णात-शक्ति का परिचय मिलता है। गाथाओं को मंथर-गति से पढ़ा जाये या तीव्र-गति से, पढ़ने पर अंतरंग सुषुप्त-भाव चेतना मुखरित हो उठती है।

प्रज्ञापुंज आचार्य कुन्दकुन्द की नयों से समवेत अध्यात्म-अभिसिक्त प्रमुख-कृतियाँ हैं - 1. 'समयसार' (गाथा 415), 2. 'प्रवचनसार' (गाथा 275), 3. नियमसार (गाथा 187), 4. पंचास्तिकाय (गाथा 173), 5. अष्टपाहुड (503)—ये पाँचों ही परमागम इस कलिकाल के अनमोल-मणिमुक्ता हैं। जिनमें यथावसर छह द्रव्य, साततत्त्व, नवपदार्थ, क्रमबद्धपर्याय, अनेकान्त, ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव आदि का परिस्पष्ट-विवेचन आया है; किन्तु सभी में शुद्धनय का विषयभूत-शुद्धात्मा ही मुख्य-स्थान पर रहा है। 'उपसंहार' के रूप में कहा जाये, तो 'समयसार' सम्यग्दर्शन, 'प्रवचनसार' सम्यग्ज्ञान और 'नियमसार' सम्यग्चारित्र का ग्रन्थ है। 'पंचास्तिकाय' में भी उन्होंने सर्व-पुरुषार्थों में सारभूत मोक्षतत्त्व का, षट्-द्रव्यात्मक वस्तुव्यवस्था एवं नवतत्त्वों का स्वरूप दर्शाया है और चारित्र-चूड़ामणि 'अष्टपाहुड़' तो उत्कृष्ट-मुनिधर्म का साक्षात्-व्याख्याता है।

इन प्राभृत के अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द की और भी गौरवशाली-रचनाएँ चौरासी पाहुड़ माने गये हैं, जिनमें दसभक्तिसंगहो, रयणसार, बारसाणुवेक्खा, मूलाचार आदि आपके गहन-चिन्तन से प्रसूत हैं।

परमागम के आदि-प्रणेता के रूप में विख्यात होने पर भी आपने 'षट्खण्डागम' के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक विस्तृत-टीका की, जो वर्तमान में अनुपलब्ध है।

पद्मनंदिनाथ की समस्त रचनाएँ 'पाहुड़' नाम से जानी जाती रही हैं, 'पाहुड़' का संस्कृतरूप 'प्राभृत' होता है। प्राभृत का अर्थ 'भेंट' भी किया जाता है। आचार्य जयसेन ने भी अपनी टीका का नाम 'समयप्राभृत' रखा। 'जयधवला' में वीरसेन स्वामी 'प्राभृत' का अर्थ ऐसा करते हैं— प्र+आभृत अर्थात् जो प्रकृष्टरूप से तीर्थंकर के द्वारा प्रस्थापित किया गया है और प्रकृष्ट-आचार्यों द्वारा धारण किया जाता है एवं पूर्व-परम्परा से आभृत है, वह 'प्राभृत' है।'' अंगों व पूर्वधारियों के प्राभृत-अधिकार होते हैं, इसी परम्परा को मस्तक पर धारणकर सूत्र की तरह इससे जुड़े रहकर आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने ग्रन्थों के नाम 'पाहुड़' रखे।

इन महा-परमागम की महिमा में स्वयं आचार्य जयसेन के वचन जयवंत वर्तें कि ''वे पद्मनंदि-आचार्य, जिन्होंने महातत्त्व से भरे हुए प्राभृतरूपी पर्वत को बुद्धिरूपी सिर पर उठाकर भव्यजीवों को समर्पित किया।'' कुन्दकुन्द की रचना-दर्पण को मूल-आधार बना अपार-सन्तों एवं विद्वानों ने बड़ी असंदिग्धता से अनेक-ग्रन्थ व सूत्र रचे हैं, जिनमें कुन्दकुन्द रचना का प्रभाव परिलक्षित है।

## टीकाकार

सुधासिंचन आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन एवं मुनिवर पद्मप्रभमलधारिदेव ने कुन्दकुन्द के साहित्य सिन्धु का मंथन अपने बलिष्ठ-ज्ञानभुजा द्वारा करके एक कुशल-गोताखोर की भाँति, सागर

के तल से मोती निकालने जैसा पाताली-गाथाओं का अकल्पित-भाव-गाम्भीर्य प्रकाशित किया।

योगीश्वर-कुन्दकुन्द के एक हजार वर्ष पश्चात् हुई 'सन्त त्रिवेणी' ने इन परमागमों पर टांकी से टंकित विशद एवं मनोहारी सरस-टीकाएँ कीं। एक आश्चर्य है यह भी कि दोनों आचार्यों के मध्य लम्बा-कालान्तराल हो जाने पर भी अन्य आचार्य एवं मनीषी इन रचनाओं पर अपनी कलम चलाने का साहस नहीं कर पाये। इस साहसी-कलम के उद्गम प्रथम-आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन एवं मुनि पद्म-प्रभमलधारि देव रहे, जिन्होंने प्राकृत-गाथाओं के हार्द को गहरी पैठ द्वारा समझ उन पर संस्कृत-भाषा में सशक्त-टीकायें लिख उन्हें कलशों द्वारा सजाया।

आचार्य कुन्दकुन्द के प्राभृतत्रय 'समयसार', 'प्रवचनसार' एवं 'पंचास्तिकाय' पर आचार्य अमृतचन्द्र ने 'आत्मख्याति', 'तत्त्व-प्रदीपिका', 'समयव्याख्या' नामक टीकायें लिखीं, तदनन्तर 200 वर्ष पश्चात् आचार्य जयसेन ने इन तीनों ही परमागमों पर एक नाम-प्रसूत टीका 'तात्पर्यवृत्ति' एवं मुनिकमलों के मुनिभ्रमर पद्मप्रभमलधारिदेव ने 'नियमसार' पर अलंकारों से अलंकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका रची, और भट्टारक-श्रुतसागरसूरी ने 'अष्टपाहुड' के 'षट्पाहुडों' पर संस्कृत-टीका लिखी, जिसमें आचार्य श्रुतसागर मुनिधर्म-शिथिलता के विरोध में बड़े शौर्य से सामने आये हैं। सचमुच यह सभी टीकायें आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं से आक्रान्त हैं। **आकाश-सी ऊँचाई, रत्न-सी जड़ित-शब्दावली एवं अनुपम-भावों से आच्छादित यह अध्यात्म-टीकायें जैन-साहित्य की ही नहीं वरन्, सम्पूर्ण भारतीय-संस्कृति एवं हिन्दी-साहित्य का बेजोड़-संग्रहालय है।**

आचार्यों की प्राकृत एवं संस्कृत-भाषा को पढ़ पाना व उनको समझ उसका मर्म ढूँढ़ लेना सैकड़ों भाषायुक्त इस आधुनिक भोग-प्रधान मंदबुद्धि-युग में कठिन नहीं असंभव-सा था। उसके पूर्ति-स्थल पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा 'जयपुर' ने 'समयसार' पर देशभाषा-टीका (वचनिका)' पण्डित राजमलजी पाण्डे ने 'कलश टीका' एवं पण्डित बनारसीदासजी ने 'नाटक समयसार' लिख 'समयसार' को सुगम व सरल बना इसकी प्रतिष्ठा को आगे बढ़ाया।

कालखण्ड के मंगल-मुहूर्त में दिगम्बर-प्रागंण पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का अवतरण-युग की एक क्रांति थी, **सदियों से बन्द जिनवाणी के विमोचक पूज्य गुरुदेव के तत्त्व-सम्पादान की एक स्पर्धाजनक-कहानी है।** 'श्रुत-रत्नाकर' समयसार उन्हें मिला, जैसे सत्य का पिटारा ही पाया; अब वह पन्नों पर लिखा न रहा, बल्कि ज्ञान की अनुभूति में छप चुका था और उनके मन-मन्दिर में उपास्य-देव के रूप में प्रतिष्ठा पा चुका था। यही 'समयसार' अभीष्ट-मित्रवत् जीवन के अन्त तक उनके साथ रहा। दिगम्बर-सन्तों के ग्रन्थों का अपने स्वच्छ-ज्ञान द्वारा दोहन कर उन्होंने शुद्ध-आत्मतत्त्व की प्रतिष्ठा की। **'पूज्य गुरुदेव से पूर्व आध्यात्मिक-चिंतन का रिवाज तो था, पर चिन्तन में अध्यात्म नहीं था।' सच कहा जाये तो 'पथ' तो था, पर 'पाथेय' इस युग को आपसे मिला।**

दिगम्बर-ऋषियों के प्रति आपके भावोद्‌गार ''मुनि-भगवन्त तो शासन के सम्राट् हैं, वीतराग-मार्ग के स्तम्भ हैं, केवली के लघुनन्दन हैं और कल्पवृक्ष 'समयसार' आगमों का आगम हैं।'' यह अध्यात्म बदरियाँ सावनी-घटा के मेघों-सी 45 वर्षों तक बरसती रहीं, कर्तृवाद की जड़ों को हिला देनेवाली वायु की तरंग-सी आपकी वाणी क्या थी,

एक जादू था, जिसने लाखों मुमुक्षुओं के असत्य-चिंतन बदले, सत्य-राह-दृष्टा यह महापुरुष आज भी लाखों हृदय की श्वासों में समाये हैं।

## समयसार एवं उसकी द्रव्यदृष्टि

अध्यात्म-गगन में विचरनेवाले आचार्य कुन्दकुन्द की यह पंच-रचनायें सम्यक्त्व, संयम व सिद्धान्तों का दस्तावेज है। जिनमें जीवन की शाश्वत-अनुभूति व सुख-दुःख की समस्याओं के सरल-समाधान प्रस्तुत कर दुःख की व्याख्या का ही अन्त कर द्रव्यदृष्टि का सुखद-अवदान विश्व को दिया। द्रव्यदृष्टि की ही सर्वोपरि-रचना 'समयसार' है, न केवल कुन्दकुन्द-साहित्य वरन् सम्पूर्ण जिनागम में 'समयसार' जैसी आत्म-प्रस्फुटक-कृति दूसरी नहीं है। इसकी एक-एक गाथा मोहविष-निवारक गारूढ़ी-मंत्र ही है।

समर्थ-टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने नाटक की अलंकारिक-शैली, दृष्टान्त की बहुरंगी-छटा देकर इसे नौ अधिकारों में विभक्त किया, लौकिक आठ-रसों के अनेक-भावों में लीन जीव विचित्र-स्वांग धरता हुआ भ्रम से महाकष्ट पाता हुआ संसार के रंगमंच पर आवागमन करता रहता है, जब नाटक का नायक शान्त-रसिया, धीर व प्रकाशक-ज्ञान' जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव आदि के स्वांग को पहचान लेता है, तो वह इन्हें रंगभूमि से बाहर कर देता है।

'समयसार' की पृष्ठभूमि क्या कहें, सम्यग्दर्शन की पृष्ठभूमि के रूप में 'पूर्वरंग' लिखा गया, इसमें शुद्धात्मा के शुद्ध-स्वरूप का सर्वांगीण-विवेचन अनेक गाथाओं के माध्यम से स्फुरित हुआ है। पहली ही गाथा में आचार्यदेव 'द्रव्य' व 'भाव-स्तुति' द्वारा 'वंदित्तु सव्वसिद्धे'—मंत्रोच्चारण कर अनंत सिद्ध-समूह को वंदन करते हैं,

''वोच्छामि समयपाहुडं सुदकेवली-भणिदं''—कहकर केवली श्रुतकेवली के वचनों से प्रतिज्ञाबद्ध होकर आगे बढ़े हैं।

'वोच्छामि' (वक्ष्यामि) गाथा में सूत्ररूप से कहा गया, किन्तु उसका गर्भगृह बहुत बड़ा होता है। केवली श्रुतकेवली द्वारा कथित यह अनादिनिधन-परमागम परम-प्रामाणिक है, इसे कहूँगा और अनन्त-सिद्धों को अपने श्रुतज्ञान की बलवती-वेदी में आमंत्रण देकर स्थापित करता हूँ तथा सभी आत्माओं के लिए भी यही पावन-बोध है। गाथा का संदेश है कि 'द्रव्यस्तुति' की स्फुरणा 'भावस्तुति' पर हो, सिद्धों की 'द्रव्यस्तुति', भक्ति भी तीव्र-आवेगवाली होती है, जिसमें पूज्य-पूजकभाव समाप्त हो जाता है; किन्तु अकेली 'द्रव्य-स्तुति' मुक्ति की उत्पादक, भवछेदन में समर्थ नहीं, क्योंकि वह स्वयं रागरूप है। इसके विकल्पों को तोड़कर सुमेरुपर्वत जैसा ज्ञान का पुरुषार्थ साध्य को सिद्ध करनेवाले ध्रुव-साधन की ओर अव्याबाध-गति से बढ़ता है, तो भावश्रुतज्ञान शुद्धात्मा में एकाकार होकर उसकी अनुभूति कर लेता है और यही 'भावस्तुति' की सर्वोच्च-दशा है।

'समयसार' की 'पूर्व-पीठिका'-स्वरूप आचार्यदेव ने पन्द्रह गाथाओं में 'द्रव्यार्थिकनय' एवं 'शुद्धनय' की मुख्यता से शुद्ध-आत्मा के स्वरूप का अत्यन्त-सरल एवं परिस्पष्ट-प्रतिपादन किया है, कुछ प्रमुख-गाथाओं का संक्षिप्त-सार इसप्रकार है—

मंगलाचरण पश्चात् 'दूसरी गाथा' में समय का अर्थ आचार्य ऐसा करते हैं, ''जो एक ही साथ जाने व परिणमन करे ,वह 'समय' है'' और तीसरी गाथा में ''जड़-चेतन विश्व का अकृत-सौंदर्य बताते हैं।'' ''**एयत्त णिच्छयगदो, समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए**'' अर्थात् एकत्व में निश्चय को प्राप्त जो समय है, वह लोक में सर्वत्र सुन्दर है।' पूज्य

गुरुदेव के शब्दों में 'छठी का लेख' यह छठी-गाथा है, इसमें आचार्यदेव 'ज्ञायकभाव' का स्वरूप दर्शाते हैं कि वह ज्ञायक ध्रुव, एकरूप, नित्यभाव-स्वरूप सत्ता होने से प्रमत्त-दशाओं के साथ परिणमित होकर 'प्रमत्त' नहीं होता और अप्रमत्त-दशा के साथ भी परिणमित होकर वह 'अप्रमत्त' नहीं होता। इसप्रकार विकारी व निर्विकारी क्षणिक-भावों से सदा ही व्यतिरिक्त, शून्य होने से वह ज्ञायक त्रिकाल-शुद्ध ही रहता है। ऐसे ज्ञायक की श्रद्धा, अनुभूति ही 'सम्यग्दर्शन' व 'सम्यग्ज्ञान' है। जीवन में एकमात्र उपासना करने योग्य यही चैतन्यदेव है। मुक्ति के प्रथम-चरण 'सम्यग्दर्शन' का प्रारम्भ इसी गाथा से हुआ है।

**जिनागम का सार**—ग्यारहवीं गाथा की एक पंक्ति में सारे आगम का निचोड़ भर दिया है—

**ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।**
**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्टी हवदि जीवो।।**

गाथा का मर्म यह है कि जो जीव 'भूतार्थ' का आश्रय लेता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है और सारा ही व्यवहार पर्यायाश्रित होने से 'अभूतार्थ' व असत्य है।

सम्पूर्ण-व्यवहार को स्पष्ट-शब्दों में 'हेय' कहकर 12वीं गाथा में 'निश्चय' के साथ 'व्यवहार' की दृढ़ता से स्थापना करते हैं। आगे गाथा 13 में आचार्य बड़ी-सूक्ष्मता से नवतत्त्व का स्वरूप बताते हैं। ''इन नवतत्त्वों के बीच रहकर भी जो अपने एकत्व को नहीं छोड़ता—ऐसा यह शुद्ध-आत्मा 'शुद्धनय' द्वारा प्रकाशित होता है।''

आत्मा की एक अनुभूति में सम्पूर्ण-जिनशासन दिखानेवाली 15वीं

गाथा भावों की पराकाष्ठा है। ''आत्मा की अनुभूति ही निश्चय से समस्त-जिनशासन की अनुभूति है''—ऐसा कहकर 'भावश्रुतज्ञान' (अनुभूति) को 'द्वादशांग' के केन्द्र-स्थान पर रखा है, क्योंकि इसके बिना अंगों व पूर्वों का ज्ञान भी 'परिग्रह' संज्ञा (नाम) ही प्राप्त करता है।

टीका में एक और मोड़ देकर कुछ मार्मिक-पंक्तियों में, आचार्यदेव ने ज्ञान की जाननकला का अनूठा-चित्रांकन किया है। श्रद्धा में चलनेवाले 'पर्याय' के 'अहं' को पूर्व-गाथाओं में साफ कर देने के पश्चात् भी ज्ञान में सूक्ष्म कर्ता-कर्म का अज्ञान, जानने की आड़ में बचा रह जाता है, उसे लवण व शाक के परिचित-दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। ''अनेकप्रकार के ज्ञेय के आकारों के साथ से मिश्ररूपता से उत्पन्न-विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप स्वाद में आता है।''

लोक में ज्ञान का ऐसा दिव्य-स्वभाव है कि वह समस्त-पदार्थों के स्वभाव को न केवल जानता है, बल्कि उनके अस्तित्व की सिद्धि भी करता है कि वह पदार्थों के निकट गये बिना, उन्हें अपनी सतह पर लाये बिना, अपनी उपादन-शक्ति से अप्रतिहत-भाव से परिणमित होता ही रहता है, न कि ज्ञेय की कृपा से। ज्ञान के ज्ञेयाकारों (विशेष का आर्विभाव) में ज्ञानत्व (सामान्यज्ञान) की अखण्डता, धारावाहिकता, अन्वयता भंग नहीं होती। उन ज्ञेयाकारों में ज्ञान की ही प्रतिध्वनि है, और वे ज्ञान के विशेष-ज्ञान ही हैं तथा स्वयं ज्ञान-सामान्य से नियत-समय पर उत्पन्न होते रहते हैं, अतः ज्ञानी इन विशेषों का तिरोभाव करता हुआ, ज्ञान के प्रतिबिम्बों को 'ज्ञान का ही रसायन' जानता हुआ, 'यह तो सब मैं ही हूँ' ऐसे शुद्ध-ज्ञान की अनुभूति कर लेता है। ज्ञान के इन प्रतिबिम्बों में जिसको क्यों ? ऐसा विषम-भाव पैदा होता है, वह

ज्ञान के ज्ञेयाकारों सहित, ज्ञान-सामान्य और आत्मा का नाश चाहता है—ऐसा अज्ञानी तो सदा ही ज्ञेयाकारों के ज्ञान में प्रवेश की भ्राँति से उद्वेलित रहता है। वह ज्ञेयों की सत्ता ज्ञान में मानता हुआ, ज्ञान को ज्ञेयमय हो जाने की कल्पना से, ''मैं इनको ही जानता हूँ''—ऐसे अध्यवसान (अज्ञान) का अन्त नहीं कर पाता। वास्तव में इन्द्रिय-विषय ज्ञान में प्रतिबिम्बित मात्र हुए थे, वह इन्हें साक्षात् ज्ञेय ही समझता है। जैसे—यह देहादि मैं ही हूँ—ऐसा मानता हुआ सदा 'शाक' व 'लवण' की तरह मिश्र-स्वाद लेता है। 'समयसार' 270 गाथा की टीका में भी इसी संबंध में मार्मिक चर्चा आई है—''मेरे ज्ञान में धर्मास्तिकाय ज्ञात होता है,'' ऐसे अध्यवसान से अपने को धर्मास्तिकायरूप करता है तथा उनके साथ कर्ता-कर्म संबंध जोड़ता हुआ, ज्ञेय-लुब्धता को एक क्षण भी नहीं छोड़ता हुआ अध्यवसान (मिथ्यादर्शन) का ही सेवन करता है।

ज्ञानी तो इस प्रतीति से सदा निश्चिन्त रहता है कि मेरी ज्ञान-परिधि में जगत् का प्रवेश ही निषिद्ध है। अतः ज्ञान-सामान्य को ही सदा आस्वादता हुआ उसकी अनुभूति में तल्लीन रहता है—ऐसे त्रिकाल-ज्ञान की अनुभूति जयवंत वर्ते।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि भी शुद्धनय की महिमा को अपने काव्य में प्रगट करते हैं—

**आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या,**
**ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।**
**आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-**
**मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघन : समन्तात्।।**

**अर्थ**—इसप्रकार जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति

है, वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है। यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल-स्थापित करके सदा, सर्व ओर से 'एक ज्ञानघन आत्मा है'—इसप्रकार देखना चाहिए।

सचमुच शुद्धनय व सम्यग्दर्शन का विषय इतना सूक्ष्म, दुरूह एवं कल्पनातीत है कि शरीर, कर्म एवं मोह, राग, द्वेष, संयुक्त-आत्मपदार्थ में उसे तलाश लेना सुलभ नहीं। वह विद्वत्ता एवं ज्ञान के विकास का विषय भी नहीं है तथा आगम में भी निमित्तों की ओर से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, सात-तत्त्व की श्रद्धा अथवा स्व-पर की श्रद्धा आदि के रूप में उसकी अनेक-परिभाषाएँ मिलती हैं, किन्तु सचमुच उसका विषय तो इन कर्म-संयोगों, आत्मा में उत्पन्न प्रमत्त-अप्रमत्त की क्षणिक-पर्यायों एवं लोकालोक मैं को जानता हूँ इत्यादि अध्यवसानों एवं स्वयं जीवतत्त्व के संबंध में प्रवर्तित-विकल्पों से अतीत है। चूँकि सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धा का विषय ध्रुव, अविनश्वर, अपरिणामी, शुद्ध-जीवतत्त्व ही होता है और वह उसी में अहंशील होकर अपना सर्वस्व-समर्पण करती है।

'पूर्वरंग' की समाप्ति 38वीं गाथा में करने के उपरान्त 'जीव-अजीव अधिकार' का संक्षेप कहते हैं। अनादि से जीव (चेतन) व अजीव (संयोग, संयोगीभाव, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म) दोनों का संबंध देखा जाने पर भी जीव इन समस्त-संबंध, उपाधियों से न्यारा निर्बन्ध, अकेला शुद्ध रहता हुआ अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। 50 से 55 गाथाओं में आचार्य सर्व ही गुणस्थान, अरहंत व सिद्धदशा को पुद्गल कहने में तनिक संकोच नहीं करते। वर्णादि से लेकर गुणस्थान-पर्यन्त जितने भी भाव हैं, वे सर्वथा पुद्गल हैं और जीव तो इनसे विलक्षण, शुद्ध-चेतनामय, चैतन्य-धातुमय, ज्ञानप्रकाश-पुंज है। हे

भव्यजीवो! उसी का साक्षात् अनुभव करो—ऐसा मंगलवचन कहते हैं। टीकाकार अमृतचन्द्र का इसी संबंध में यह मधुर-काव्य द्रष्टव्य है—

**चिच्छक्ति-व्याप्त-सर्वस्वसारो जीव इयानयम्।**
**अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गालिका अमी।।**

**अर्थ**—''चैतन्य-शक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व सार है - ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है। इस चित्शक्ति से शून्य जो ये भाव हैं, वे सभी पुदगलजन्य हैं, पुद्गल के ही हैं।'' उक्त-कलश में इस अधिकार के निष्कर्षरूप अद्भुत-भाव गम्भीरता व्यक्त हुई है।

'समयसार' की उपरोक्त-गाथाओं एवं सभी अधिकारों में इस शुद्ध-जीवतत्त्व के परिशुद्ध-स्वरूप का पता देना ही आचार्यदेव को अभीष्ट रहा है; क्योंकि इसका सुनिश्चितस्वरूप जाने बिना सम्यग्दर्शन, स्वसंवेदन-प्रत्यक्षरूप शुद्धनयात्मक-आत्मानुभूति (सम्यग्ज्ञान) ही नहीं होती, फिर चारित्र की चर्चा तो काफी दूर रह जाती है।

## 'समयसार' एवं उसका 'कर्त्ताकर्म'-अधिकार

कर्त्ताकर्म-अधिकार 'समयसार' का अलौकिक-अधिकार है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'जीव-अजीव अधिकार' के ठीक बाद 'कर्त्ताकर्म अधिकार' लिखा। यद्यपि 'समयसार' में शुद्ध-जीवतत्त्व का स्वरूप नवतत्त्वों से भिन्न दिखाने के लिए नवतत्त्वों का विस्तार से वर्णन है, किन्तु नवतत्त्वों में 'कर्त्ताकर्म' नामक कोई तत्त्व नहीं है। फिर भी आचार्यदेव को यह अधिकार लिखने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ? यह एक अत्यन्त स्वाभाविक-प्रश्न है।

समाधान यह है कि जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य अनेक दर्शन भी

जीव और अजीव की भिन्न-सत्ता तो स्वीकार करते हैं; किन्तु फिर भी उनमें कर्त्ता-कर्म संबंध स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन का मानना है कि भिन्न-सत्ता एवं भिन्न-स्वभाववाले तत्त्वों में किसीप्रकार का षटकारकीय-संबंध संभव नहीं और यदि संबंध मान भी लिया जावे, तो वे भिन्न नहीं रह सकेंगे। यह जैनदर्शन का मौलिक, सूक्ष्म-चिंतन एवं महत्त्वपूर्ण-शोध है।

आचार्य कुन्दकुन्द 'कर्त्ता-कर्म-अधिकार' में इसका रहस्योद्घाटन कर कहते हैं, चेतन एवं जड़ में कर्त्ता-कर्म-संबंध तभी संभव हैं, जब वे दोनों एक हों और उनका एक होना असंभव है। कर्त्ता व कर्म की व्यवस्था एक ही पदार्थ में होती है और होनी भी चाहिए। यदि दो पदार्थों में स्वीकार की जाती है, तो कर्त्ता एक पदार्थ होगा, कर्म दूसरा पदार्थ होगा और कर्मफल की व्यवस्था किसी तीसरे पदार्थ में होगी। इसप्रकार कर्त्ता, कर्म व कर्मफल की व्यवस्था ही चरमरा जाएगी। एक दूसरी-युक्ति यह कि एक कार्य की निष्पत्ति के समय अनेक-पदार्थ होंगे, तो वहाँ कर्त्ता का ही निश्चय नहीं हो सकेगा। कर्त्ता व कर्म की भिन्न-सत्ता माननेवालों को आचार्यदेव द्विक्रियावादी-मिथ्यादृष्टि कहकर सर्वज्ञ के मत के बाहर रखते हैं और गाथा 83 में ऐसा स्पष्ट करते हैं—

**जम्हा दु अत्तभावं, पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।**
**तेण दु मिच्छादिट्ठी, दोकिरियावादिणो हुंति।।**

**गाथार्थ**—क्योंकि आत्मा के भाव को और पुद्गल के भाव को—दोनों को आत्मा करता है, ऐसा वे मानते हैं; इसलिए एकद्रव्य की दो क्रियाओं का होना माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं।

इसी के समर्थन में अमृतचन्द्र सूरि के कलश-काव्य दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत है—

**यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।**
**या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।**

**अर्थ**—''जो परिणमित होता है, सो कर्त्ता है; जो परिणाम है, सो कर्म है; जो परिणति है, सो क्रिया है—यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं है।'' कर्त्ता की संक्षिप्त-परिभाषा देकर कर्त्ता, कर्म, क्रिया की अभिन्नता सिद्ध की; क्योंकि तीनों में वस्तुगत-भेद नहीं है। इसी को 53वें कलश में और अधिक स्पष्ट करते हैं -

**नोभौ परिणमतः खलु, परिणामो नोभयोः प्रजायेत।**
**उभयोर्न परिणतिः स्वाद्यदनेकमनेकमेव सदा।।**

**अर्थ**—दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्य की एक परिणति-क्रिया नहीं होती; क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते। वास्तव में प्रतिसमय एकपदार्थ में क्रम से एक ही परिणाम होता है, उस परिणाम को ही उसका 'कर्म' कहते हैं, कर्त्ता-कर्म दोनों 'व्याप्य-व्यापक भाव' से एक ही वस्तु (तत्स्वरूप) में रहते हैं। अतः जीव भी 'व्याप्य-व्यापक-भाव' से अपने ही परिणाम को करता है और 'भाव्य-भावक-भाव' से उसी को भोगता है—ऐसा अंसदिग्ध एवं यथार्थ-निर्णय होता है।

कर्त्ता-कर्म जीव के अज्ञान से उत्पन्न एक पर्याय-विशेष का ही नाम है, इस कर्तृत्व की पाषाणीवत् शिला के टुकड़े कर इसके भार से मुक्त कर देनेवाला यह अधिकार अकर्त्ता की मंगल-दृष्टि प्रदान कर निश्चिन्त व निर्भार-जीवन जीना सिखाता है। अनेकानेक अकाट्य-न्याय, युक्ति एवं सिद्धान्त इस अधिकार में उभरकर आये हैं, जिनसे

कर्त्ता-कर्म के शत्रु को छिपाने की कोई जगह शेष नहीं बचती। **जिनशासन पर सर्वत्र अकर्त्तावाद की ही विजय-पताका फहरा जाती है।**

आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्त्ता-कर्म के अज्ञान का स्थूल से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म-विश्लेषण किया है। आत्मा से भिन्न शरीर, आठ कर्म आदि और आत्मा में ही उत्पन्न क्रोधादि-वृत्तियों के स्थूल कर्त्ता-कर्म में तो यह अज्ञानी निरन्तर-व्यस्त ही रहता है; किन्तु इस अधिकार की अन्तिम-गाथाओं (142, 143, 144) एवं बीस कलशों में आत्मानुभूति के पूर्व स्वयं के ही शुद्ध-स्वभाव (शुद्धनय) के संबंध में चलनेवाले सूक्ष्म-चिंतन के विकल्प (कर्तृत्व) को भी 'कर्त्ता-कर्म का सूक्ष्म अज्ञान' ही घोषित करते हैं।

चैतन्य की प्राप्ति के पूर्व पुरुषार्थी-साधक को चैतन्य-वस्तु के ही संबंध में अनेकप्रकार की विचार कक्षा (नयकक्षा) प्रवर्तित होती है। इस सहज-क्रम में विचार आये बिना नहीं रहते, किन्तु जिसे शुद्धात्मा की प्राप्ति का उत्साह बहुत है, वह इन नय-संबंधी विचारों में रुकता नहीं। यदि रुक जाता है, तो वस्तु तक नहीं पहुँच पाता। विचार आते हैं, इतना मात्र वे साधक हैं, किन्तु वास्तव में बाधक हैं; क्योंकि विचार चपल हैं, तरंगति हैं, तरल है, उनसे राग व विकल्प होकर रह जाते हैं; फिर भी आनन्द की उत्पत्ति नहीं होती, अनुभूति तो साक्षात्-घन होती है, अतएव नयों की तंरगति-नदी को पार करता हुआ शुद्धात्मा के तट पर बड़ी त्वरा से पहुँचता है, तो निर्विकल्प विज्ञानघन-दशा को प्राप्त होता हुआ वह भावश्रुतज्ञानी भी केवली-परमात्मा सदृश अतीन्द्रिय-आनन्द का भोग करता है। इस संदर्भ में आचार्य देव 142 गाथा में कहते हैं—

**कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।**
**पक्खादिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो।।**

**गाथार्थ**—जीव में कर्म बद्ध है अथवा अबद्ध है, इसप्रकार तो नयपक्ष जानो, किन्तु जो 'पक्षातिक्रांत' कहलाता है, वह 'समयसार' है।

आचार्य अमृतचन्द्र इन नयपक्ष के त्याग की भावनारूप कलश कहते हैं—

**इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चल-विकल्प-वीचिभिः।**
**यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं, कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्मयः।।**

**अर्थ**—''विपुल, महान् चंचल-विकल्परूपी तंरगों के द्वारा उड़ते हुए इस समस्त इन्द्रजाल को, जिसका स्फुरणमात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है, वह चिन्मात्र-तेजपुंज मैं हूँ।''

विकल्प-रहित जीव ही अमृत का पान करता है, इसका उपसंहार आचार्य इस कलश द्वारा करते हैं—

**य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।**
**विकल्पजालच्युत-शांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।**

**अर्थ**—जो नय-पक्षपात को छोड़कर स्वरूप में गुप्त होकर सदा निवास करते हैं, वे ही जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हो गया है—ऐसे होते हुए साक्षात् अमृतपान करते हैं।

'कर्त्ता-कर्म अधिकार' के उपसंहार-स्वरूप ये मार्मिक-कलश एवं 143-144 गाथायें, समस्त-विकल्पों से खण्डित नहीं होनेवाला ऐसा 'समयसार' (शुद्धात्मा) के निर्विकल्प-अनुभव की महामहिम, संक्षिप्त-सरल-विधि बताती है, जिनमें सूक्ष्म-चिन्तन का कर्तृत्व (पक्ष) भी अनुभूति में बड़ी बाधा है, और वह भी कर्त्ता-कर्म का अज्ञानजन्य-

भाव है, ऐसा न्याय की बौछारों से आचार्य ने सिद्ध किया। **सचमुच 'समयसार' का 'कर्त्ता-कर्म अधिकार' विश्व के विधान का प्रकाशक जैनदर्शन का वैज्ञानिक-अन्वेषण है।**

'समयसार' के अन्य अधिकार भी इसी 'अकर्त्तावाद' के सागर में समेटते हुए इसे विराम देता हूँ। इस ग्रन्थराज का 'ध्रुवतारा' तो चैतन्य है और नवऋषि-मण्डल (नव अधिकार) इसकी परिक्रमा करते हैं। आगे भी पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष एवं सर्वविशुद्धज्ञान -अधिकारों में जीव के परिशुद्ध-स्वरूप का बोध कराना ही आचार्य का विशुद्ध-प्रयोजन है। उन्होंने सर्वत्र इसी का यशोगान किया है, क्योंकि इसका सम्यक्-स्वरूप जाने बिना कर्तृत्व व दुःख की गठरी शीश से नहीं उतर पाती, फिर सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प, आत्मानुभूति (सम्यग्ज्ञान) एवं आत्मरमणता (वीतराग-चारित्र) कैसे हो सकेंगे?

सचमुच यदि कुन्दकुन्द का 'समयसार' नहीं होता, तो प्राप्त-जिनागम में से द्रव्यदृष्टि को खोज पाना सम्भव नहीं था। **अतः 'समयपाहुड' की यह द्रव्यदृष्टि एवं शुद्ध-जीव ही कुन्दकुन्द का भवान्तक-प्रदेय है।**

## अष्टपाहुड

'अष्टपाहुड' की ठोस-चट्टान पर खड़े आचार्य कुन्दकुन्द पवित्र-मुनिधर्म के प्रिय-प्रतिनिधि हैं। जिन्होंने महावीर के अचेलकधर्म में आये शिथिलाचार एवं विकृतियों पर निर्दय-प्रहार किये और उस मुनिधर्म का सुदृढ़ एवं सघन-गठन कर उसकी सुरक्षा की, जिसमें स्खलन का किंचित् भी अवकाश नहीं है।

'अष्टपाहुड' में विभक्त यह ग्रन्थ साक्षात् निर्ग्रन्थ-पंथ है। इस ग्रन्थ

में आचार्यदेव का मुख्य-प्रतिपाद्य मुनिधर्म व उसकी विकृतियाँ हैं और इसकी रचना मुनियों को लक्ष करके ही हुई है। श्रमण-धर्म में व्याप्त विषमता उन्हें तनिक भी सह्य नहीं, अतएव 'सूत्रपाहुड' की 17-18 गाथा में वे बिलकुल बेलिहाज बोलते हैं कि ''बाल के अग्रभाग की कोटि अर्थात् अणुमात्र भी परिग्रह यदि मुनि ग्रहण करता है, तो वह निगोद का पात्र है।'' **उन्होंने मुनिधर्म के भव्य-भवन का शिलान्यास सम्यग्दर्शन की फौलादी-भूमि पर किया है और कहा है ''जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सभी प्रकार से भ्रष्ट हैं, उनका निर्वाण नहीं होता।''**

उन्होंने रत्नत्रयरूप-शुद्धोपयोग को ही मुनि का अंतरंग-स्वरूप कहा, किन्तु साथ में उसके सहचर पैदा हुए, बालक-सदृश नग्नत्व एवं 28 मूलगुण, महाव्रतादिरूप-शुभाचार की भी दृढ़ता से स्थापना की और पुनः इस बाह्यरूप के प्रति अनासक्त रहने के लिए वे 'लिंगपाहुड' में मुनि को सजग करते हुए बोले -

**धम्मेण होइ लिंगं, ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।**
**जाणेहि भावधम्मं, किं ते लिंगेण कायव्वो।।**

**अर्थ**—वेश तो धर्मसहित होता है, वेशमात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती, अतः हे मुनि! तू भावधर्म को जान, वेश से तुझे क्या काम है?

इसतरह दिगम्बर-श्रमण का सर्वज्ञ-प्रणीत आचार-संहिता का अर्न्तबर्हि-निर्दोष-स्वरूप प्रतिपादित कर चैतन्य-विहारी-सन्त कुन्दकुन्द ने श्रमण-संस्कृति को युगों-युगों तक सुरक्षित कर दिया और **उनका यह प्रदेय प्रदीप की तरह सदैव महाश्रमणों को दिशादान करता रहेगा। नयों के संतुलित-चिन्तन से उद्भूत-भावों के भवन यह पंचरत्न सचमुच 'वीतरागता की जन्मस्थली' है।**

## चिंतन के नये आयाम

महामनीषी आचार्य कुन्दकुन्द का एक महत्त्वपूर्ण-प्रदेय यह है कि उन्होंने जीव का चितंन बदला है और उनकी समग्र-साहित्यधारा सानुरोध तीव्र-वेग से इसी उद्देश्य की दिशा में प्रवाहित हुई है। कुन्दकुन्द का निदान यह है कि सदा से ही प्राप्त मनुष्यादि मोह-राग-द्वेषादि क्षणिक पर्याय में तन्मयता अहं ही जीव के अनन्त-कष्टों का जनक है, इस पर्याय-निष्ठा के विरुद्ध उन्होंने 'समयसार' के 38वें सूत्र में एक सशक्त-स्वर दिया—

**अहमेक्को खलु सुद्धो, दंसण-णाण-मइयो सदारूवी।**
**ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।**

**अर्थ**—निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, किचिंत् मात्र भी अन्य-परद्रव्य परमाणु-मात्र भी मेरा नहीं है।

कुन्दकुन्द की इस दिव्यवाणी के अनुशीलन में जब जीव की अविराम-चिन्तनधारा साधना के इस सहज-क्रम में गतिमान होती है, तो चिन्तन के मधुर-उन्माद व तरलता का व्यय होकर, आत्मसंवेदन में श्रद्धा एवं ज्ञान एकीभूत हो मुखर उठते हैं और यह अनुभूति मुक्ति की अनन्तता में विलीन हो जाती है, यही आनन्द-वेदना आर्हत-दर्शन का प्रसिद्ध 'ब्रह्मानन्द' है। सचमुच चिंतन के ये नये आयाम देकर **महान् दार्शनिक कुन्दकुन्द ने 'मुक्तिमंगला' का उद्घाटन कर दिया।**

इसप्रकार दो हजार वर्ष की श्रमण-संस्कृति के छत्र एवं अचेलक-धारा के शीर्ष आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने वरद-हस्त से जो दान दिया, यह वसुन्धरा उससे कभी उऋण नहीं हो सकेगी।

❀❀❀

# सन्त-वन्दन

ओ! मानवता के केन्द्र-बिन्दु,
नश्वर-जग के शाश्वत-प्रकाश।
ओ नग्न-अहिंसा नग्न-सत्य,
हे! भौतिकता के महानाश।।1।।

हम संसारी, तू मुक्ति दूत,
तू पुण्य पूत हम महापाप।
हम हैं जड़ता के मूर्तरूप,
चेतन महान-चेतन विराट।।2।।

हम चूम रहे जग की छाया,
तुम छोड़ चले जग की माया।
जग तुझे चूमने को चलता,
हम चूम चले जग की काया।।3।।

तुम लक्ष-वीण के एक तार,
तुम लक्ष-लक्ष के एक राग।
तुम कोटि-कोटि के हिय-प्रसून,
तुम स्वयं सिद्ध से साम्यवाद।।4।।

तेरे मानस में सत्यवास,
तेरी वाणी में विश्व-क्षेम।
निज-चिंतन तेरी निधि असीम,
तुझको न अपेक्षित मुक्त-हैम।।5।।

हे महात्याग! हे महाभाग!!
कितना अनंत तेरा प्रयाण।
तेरे पुनीत युग-चरणों में,
शत्-शत् प्रणाम, शत्-शत् प्रणाम।।6।।

# महाकवि बनारसीदास
# एवं
# उनका साहित्यिक मूल्यांकन

अध्यात्म की पुनीत-सलिला में स्नात महाकवि बनारसीदास हिन्दी-जैन-साहित्याकाश के दैदीप्यमान-चन्द्र हैं। उनका जीवन मनुष्य के चारित्रिक-पतन एवं उत्थान की पराकाष्ठा की एक मनोरंजक एवं प्रेरक-कहानी है। एक ओर जहाँ उनका जीवन चारित्रिक-स्खलन की चरम-सीमा तक पहुँचा, वहीं दूसरी ओर उन्होंने अध्यात्म के धवल-हिमाचल के शिखर का स्पर्श किया, उनका लोक-जीवन कठिनाइयों से भरा था। बनारसीदास ने अपने जीवन में जो उतार-चढ़ाव, विषमतायें, विपत्तियाँ एवं आर्थिक संकट देखे, वे मानव-जीवन की विरलतायें हैं।

**वंश-परम्परा एवं पारिवारिक-जीवन**—बनारसीदास की वंश-परम्परा एवं उनका 55 वर्ष का जीवन-चरित्र स्वयं उनके द्वारा रचित उनकी विख्यात काव्य-कृति 'अर्द्धकथानक' में वर्णित है। उनके पूर्वज मूलतः 16वीं शताब्दी के भारत के मध्यदेश के 'रोहतगपुर' नगर के 'बिहोली' गाँव के राजवंशी-राजपूत थे। वे अनेक पाप-कर्म करते थे। उस समय भारत में बाबर और हुमायूं बादशाह का शासन था। एक बार एक जैन-साधु 'बिहोली' गाँव में आये, उनके उपदेश से राजपूतों के उस वंश ने समस्त पाप-कर्मों का परित्याग कर दिया। उन जैन-

साधु ने इन क्षत्रियों को णमोकार-मन्त्र की माला पहनाई और उनको जैनधर्म में दीक्षित कर उन्हें 'श्रीमाल' कुल एवं 'बिहोली' गाँव के नाम पर 'बिहोलिया' गोत्र प्रदान किया। इसी श्रीमाल-वंश की परम्परा में सं. 1608 में 'श्रावण शुक्ल पंचमी, रविवार' को 'नरवर' नगर में मूलदास श्रीमाल के घर बनारसीदास के पिता खरगसेन का जन्म हुआ। मूलदास 'नरवर' नगर में मुगल उमराव के 'मोदी' बनकर आये थे। सं. 1613 में मूलदास की मृत्यु हो जाने पर मुगल उमराव ने मुगल-शासन-पद्धति के अनुसार उनके घर पर मोहर-छाप लगाकर उनकी सारी सम्पत्ति छीन ली, अत: खरगसेन की माँ अत्यन्त दु:खी होकर अपने पुत्र खरगसेन को साथ लेकर खरगसेन के नाना मदनसिंह श्रीमाल चिनालिया जौहरी (खरगसेन के नाना हजमल के बड़े भाई) के यहाँ गोमती नदी के किनारे स्थित पूर्व-देश के प्रसिद्ध-नगर 'जौनपुर' आ गई। मदनसिंह उनके साथ मुगल उमराव-कृत उपद्रवों की कथा सुनकर बहुत रोये और उन्हें अपनी पुत्री ही मानकर सम्मान-सहित अपने यहाँ रख लिया।

नाना मदनसिंह जौहरी के यहाँ ही खरगसेन का पालन-पोषण एवं शिक्षा हुई और मदनसिंह ने 10-12 वर्ष की अल्पायु में ही उन्हें पढ़ा-लिखाकर सर्राफ-व्यवसाय एवं लेन-देन में प्रवीण कर दिया। संवत् 1630 में 22 वर्ष की अवस्था में खरगसेन का विवाह हो गया। संवत् 1635 में खरगसेन के एक पुत्र का जन्म हुआ, जो दस दिन बाद ही दिवगंत हो गया।

वह धार्मिक-अन्धविश्वासों का युग था। खरगसेन यद्यपि बड़े चतुर-पुरुष थे, फिर भी परम्परागत-अन्धविश्वासों से मुक्त नहीं थे। प्रथम-पुत्र की मृत्यु हो जाने पर वे पुन: पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा से

अपने पूर्वजों के नगर रोहतगपुर 'सती की जात' के लिए गये, किन्तु मार्ग में ही चोरों ने सब कुछ लूट लिया। मात्र पति-पत्नी के वस्त्र बचे। बनारसीदास ने अपने 'अर्द्धकथानक' में इस देवमूढ़ता का मनोरंजक-चित्रण किया है। वे लिखते हैं—'गये हुते माँगन को पूत, यह फल दीनों सती अऊत'।

सम्वत् 1641 में खरगसेन के नाना मदनसिंह की मृत्यु हो गई। इसके पश्चात् सं. 1643 में माघ शुक्ल एकादशी, रविवार के दिन रोहिणी-नक्षत्र, वृष के चन्द्रमा और रोहणी के तृतीय-चरण में खरगसेन के घर 'जौनपुर' में बनारसीदास का जन्म हुआ। बनारसीदास का जन्म नाम 'विक्रमाजीत' रखा गया। जन्म के 6-7 मास पश्चात् माता-पिता अपने पुत्र विक्रमाजीत को लेकर भगवान पार्श्वनाथ की जात (पमना/दर्शन) के लिए भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मभूमि 'वाराणसी' गये। जहाँ उन्होंने अपने पुत्र के लिए भगवान् पार्श्वनाथ की बहुत मनौती की।

वहाँ उस मन्दिर के पुजारी ने अपनी छल-चतुराई से उस बालक का नाम भगवान 'पार्श्वनाथ' की जन्मभूमि 'बनारस' के नाम पर 'विक्रमाजीत' के स्थान पर 'बनारसीदास' रखवा दिया और विश्वास दिलाया कि वह नाम रखने पर तुम्हारा बालक निरोग एवं चिरंजीवी होगा; किन्तु बात सभी कुछ इसके विपरीत हुई।

बनारसीदास जब पाँच वर्ष के हुए तो उन्हें भयंकर 'संग्रहणी रोग' हो गया, जो एक वर्ष तक चला। जब वे सात वर्ष के होते हुए तो 'शीतला' (चेचक) की महा-कष्टप्रद व्याधि हो गई। आठवें वर्ष में बनारसीदास ने पांडे रूपचन्दजी से 'चटशाला' में विद्याध्ययन प्रारम्भ किया और एक वर्ष में विद्या पढ़कर लेखा आदि सीखने में व्युत्पन्न हो गए। नवें वर्ष सं. 1652 में पिता खरगसेन ने 'खैराबाद' बनारसीदास

की सगाई कर दी और सं. 1654 माघ शुक्ला 12 को 11 वर्ष की अवस्था में बनारसीदास का विवाह हो गया। जिस दिन बनारसीदास विवाह कर लौटे, उसी दिन लोक-जीवन की तीन प्रमुख घटनायें जन्म, मरण एवं वरण घर में एक साथ घटी। 'अर्द्धकथानक' में बनारसीदास ने इसका बड़ा मार्मिक चित्रण किया है—

**नानी-मरण, सुता-जनम, पुत्रवधू-आगौन,**
**तीनों कारज एक दिन, भये एक ही भौन।**
**यह संसार-विडंबना, देखि प्रगट दुःख खेद,**
**चतुर-चित्त त्यागी भये, मूढ़ न जानहि भेद।**

बनारसीदास के पिता खरगसेन जवाहरात का व्यवसाय करते थे, किन्तु मुगल-शासन के आतंक एवं निरंकुशता के कारण उन्हें व्यवसाय में बड़े कष्ट उठाने पड़े। एक बार जौनपुर के नवाब किलीचखां ने नगर के सब जौहरियों को पकड़कर एक कोठरी में बन्द कर दिया और उनसे कोई बड़ी वस्तु माँगने लगा। ऐसी कोई बड़ी वस्तु जौहरियों के पास थी नहीं, अतः एक दिन किलीचखाँ ने सब जौहरियों को कोठरी से निकालकर एक-कतार में खड़े करके कंटीले-कोड़ों से मार-मार कर मृतक समान कर दिया और फिर छोड़ दिया। उसके आंतक से सभी जौहरी 'जौनपुर' छोड़कर अपने परिवार को साथ लेकर जहाँ-तहाँ भाग गए। खरगसेन इस विपत्ति में परिवार-सहित 'साहिजादपुर' आ गए। इसके बाद प्रयाग, फतेहपुर, लछमनपुर आदि अनेक स्थानों पर अपने सुख-दुःख के दिन काटते खरगसेन जौनपुर में शांति होने पर सपरिवार सं. 1657 में जौनपुर वापस लौटे। इस समय बनारसीदास चौदह वर्ष की अवस्था में ही बनारसीदास पर यौवन छा गया और उन्होंने घोर-कामासक्त होकर लोकलज्जा एवं कुल की सारी मर्यादायें तोड़ दीं। इस

दुर्व्यसन की पूर्ति के लिए वे अपने पिता के माणक-मणियाँ आदि चुराने लगे और अपनी प्रेमिकाओं के पास पान, मिठाई आदि भेजने लगे। इसी समय श्वेताम्बर-मुनि 'भानुचंद्र' का चातुर्मास जौनपुर में हुआ। बनारसीदास अपने पिता के साथ मुनिजी के पास जाने लगे, उनसे बहुत-स्नेह हो गया, और बनारसीदास ने उनसे पंचसंधि, अनेक श्लोक, सामायिक, प्रतिक्रमण, छंदकोष, श्रुतबोध आदि पढ़कर कंठस्थ कर लिए। फिर भी बनारसीदास का वह दुर्व्यसन नहीं छूटा और इसी समय चौदह वर्ष की अवस्था में ही बनारसीदास ने काम के उन्माद में एक हजार दोहा-चौपाइयों की घोर-शृंगारिक कृति 'नवरस' पदावली की रचना कर डाली।

इस संदर्भ में एक विचार अवश्य उत्पन्न होता है कि मुगलों के निरंकुश-शासन के कारण उस समय बाल-विवाह की प्रथा तो थी ही, किन्तु उस युग की यह बात बड़ी विचित्र लगी कि बालकों को कोक-शास्त्र भी पढ़ाया जाता था। अनादि से ही जीव मैथुन जैसे मधुर-विषमय-संज्ञा से पीड़ित है और फिर विधिवत् विद्याध्ययन द्वारा उसकी उस संज्ञा का उद्दीपन करना युग का आश्चर्य ही कहा जायेगा। निश्चित ही कोकशास्त्र के अध्ययन का ही दुष्परिणाम था कि चौदह वर्ष की अल्प-आयु में ही बनारसीदास चरित्रहीन हो गए।

बनारसीदास की यह स्थिति 16 वर्ष की अवस्था तक चलती रही, इस दुर्व्यसन के परिणामस्वरूप वे 'उपदंश' जैसी अनेक भयंकर-व्याधियों से आक्रांत हुए एवं इसी दुर्व्यसन की सुरक्षा के लिए वे अनेक ठग-साधुओं के चक्र में भी फँसे। सं. 1659 में सावन में एक साधु ने उन्हें इस तरह बहकाया कि 'यदि तुम एक वर्ष तक मेरे बताये मंत्र का जाप प्रतिदिन पाखाने में बैठकर करोगे, तो तुम्हें प्रतिदिन अपने द्वार पर

एक दीनार मिलेगी'। बनारसीदास ने वैसा ही किया किन्तु उन्हें एक फूटी-कौड़ी भी नहीं मिली। इसीप्रकार एक जोगी ने उन्हें मूर्ख बनाया, उन्हें एक शंखोली (शंख) एवं पूजा की सामग्री देकर कहा कि ''यह सदाशिव की मूर्ति है, इसकी नित्य पूजा-जाप करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।'' बनारसीदास नित्य स्नान करके वैसा ही करते, भोजन भी बाद में करते, किन्तु सभी कुछ व्यर्थ गया। बनारसीदास ने अपनी इस मूर्खता को अर्धकथानक में बड़े व्यंग्य से अभिव्यक्त किया है। वे लिखते हैं—

**संख-रूप सिव-देव, महासंख बनारसी,**
**दोनों मिले अवेक, साहिब-सेवक एक से।**

इसी समय सं. 1662 की वर्षा-ऋतु में आगरे में सम्राट् अकबर की मृत्यु हो गई। बनारसीदास उस समय अपने घर की सीढ़ियों पर बैठे हुए थे। अकबर की मृत्यु का वृत्तांत सुनते ही वे मूर्च्छित होकर सीढ़ियों से नीचे गिर पड़े और सिर फट गया, सारा आंगन रक्त से लाल हो गया। 'हाय-हाय' करते माता-पिता ने उन्हें गोद में उठाया और माँ ने कपड़ा जलाकर उनके घाव में भरा।

अकबर की मृत्यु के बाद परम्परानुसार सम्पूर्ण प्रजा भय से व्याकुल हो गई। लोगों ने अपना धन धरती में गाड़ दिया, मोटे-वस्त्र पहिन लिये और घरों के किवाड़ बंद कर लिए, जब जहाँगीर गद्दी पर बैठे और उन्होंने चारों ओर निर्भयता के संदेश भेजे, तब लोगों को शान्ति मिली।

एक दिन बनारसीदास ऊपर के कमरे में अकेले बैठे हुए थे, बैठे-बैठे उन्हें विचार आया कि 'जब मैं मूर्च्छित होकर नीचे गिरा, तब भी संखोली ने मेरी कोई सहायता नहीं की'—इस विचार के साथ ही

संखोली से उनकी आस्था उठ गई, उसके बाद बनारसीदास की बुद्धि ने करवट बदली।

एक दिन अनायास ही अपनी 'नवरस-पदावली' लेकर वे अपने मित्रों के साथ 'गोमती' नदी के बीच पुल पर जाकर बैठ गए और अपने मित्रों को उस पोथी की रचनायें सुनाने लगे। उसी समय उनके मन में सद्विचार की एक कल्लोल उठी कि ''जो एक झूठ बोलता है, उसे भी नरक के दु:ख देखने पड़ते हैं और मैंने तो अपनी इस रचना में अनगिनत कल्पित-झूठ बोले हैं, जिनमें एक भी सत्य नहीं है, तब मेरी क्या दशा होगी।''—यह विचार करते हुए बनारसीदास नदी की ओर देखने लगे और देखते ही देखते नवरस-पदावली की पोथी उन्होंने रद्दी की तरह गोमती में डाल दी। सभी मित्र हाय-हाय करने लगे और पोथी के पन्ने नदी में फैलकर बह गए। उसी दिन से बनारसीदास ने काम के उस स्वच्छंद-दुर्व्यसन का परित्याग करके कुल की मर्यादा ग्रहण कर ली और नित्य-जिनदर्शन, सामायिक और प्रतिक्रमण आदि करने लगे।

बनारसीदास एक असफल-व्यवसायी माने जाते हैं। 9 वर्ष की अवस्था में कौड़ियाँ बेचकर उन्होंने व्यापार का आरम्भ किया, और घृत, तेल, कपड़ा, जवाहरात आदि का उन्होंने जौनपुर एवं आगरा तथा अनेक-स्थानों पर स्वतन्त्र एवं साझे में बहुत परिश्रमपूर्वक व्यवसाय किया। किन्तु उन्होंने प्राय: खोया ही खोया और बहुत कम पाया। एक बार वे डाकुओं के गिरोह तक में जा फँसे और बड़ी चतुराई से सरदार को आशीर्वाद देते हुए वहाँ से निकले, उनके जीवन के लगभग अंतिम-बीस-वर्ष का व्यावसायिक-जीवन आगरे में शांति से बीता।

उनका गार्हस्थ-जीवन भी कष्टों से घिरा रहा। सचमुच बनारसीदास

का जीवन एक ऊबड़-खाबड़ रास्ते की तरह विषमतम उतार-चढ़ावों की एक अद्‌भुत-कहानी है। उन्होंने तीन विवाह किए, सात पुत्र एवं दो पुत्रियाँ हुईं; किन्तु सबके सब एक के बाद एक पतझड़ के पत्तों की तरह गिर गए। बनारसीदास ने अपने दाम्पत्य के इस अभागे-स्थल को अपने 'अर्द्धकथानक' में वैराग्य का बड़ा भव्य-स्वरूप प्रदान किया है। वे लिखते हैं—

**नौ बालक हुए, मुये, रहे नारि-नर दोय,**
**ज्यों तरुवर पतझार ह्वै, रहे ठूंठ से होय।**
**तत्त्वदृष्टि जो देखिये, सत्यारथ की भाँति,**
**ज्यों बाको परिग्रह घटे, त्यों ताको उपसांति।**

**धार्मिक परिवेश**—बनारसीदास मूलतः श्वेताम्बर श्रीमाल-कुलोत्पन्न थे। सं. 1662 में 'नवरस पदावली' के गौमती में विसर्जन के बाद उनके जीवन की दिशा बदली और वे दर्शन, पूजन, सामयिक, प्रतिक्रमण आदि श्वेताम्बर-कुलाचार में निरत हो गए। उनके जीवन में प्रमुख धार्मिक मोड़ तब आया, जब सं. 1680 में आगरे में अध्यात्मरसिक अरथमलजी ढोर का उन्हें स्नेहपूर्ण समागम मिला और अरथमलजी ने उन्हें दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के परम अध्यात्म-शास्त्र 'समयसार' पर रचे गये आचार्य अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' टीका के संस्कृत-कलशों (श्लोकों) पर 'समयसार के मर्मी' महा-विद्वान् पांडे राजमलजी कृत 'बालबोधिनी भाषा-टीका' की एक प्रति लिखकर दी। बनारसीदास बड़ी रुचि में उसे नित्य पढ़ने लगे; किन्तु सद्‌गुरु के बिना अध्यात्म का मर्म हाथ नहीं लगा और वे दर्शन-पूजनादि समस्त शुभ-क्रियाओं को छोड़कर अपने चार मित्रों के साथ स्वच्छंदी हो गए। बनारसीदास की यह दशा देखकर धार्मिक लोग उन्हें

'खोसरामती' (निश्चयाभासी) कहने लगे। अर्द्धकथानक में बनारसीदास ने अपनी इस स्वच्छंदता का एकदम खुला एवं मनोरंजक-चित्रण किया है। उनकी यह दशा सं. 1692 तक चलती रही।

सं. 1692 में आगरे में अनायास ही अध्यात्म एवं व्यवहार के मर्मज्ञ पं. रूपचंदजी का शुभागमन हुआ और आगरे की अध्यात्मशैली ने उनसे 'गोम्मटसार' का स्वाध्याय सुनाने का अनुरोध किया। विद्वान् पं. रूपचंदजी से मुक्तिमार्ग में गुणस्थान (शुद्धि की कक्षा) के अनुसार अंतरंग-शुद्धि एवं उसके योग्य बाह्य-शुभाचार की सुसंगति सुनकर बनारसीदास की आँखें खुल गई, उनकी स्वच्छदंता एवं संशय मिट गये और जीवन में ज्ञान एवं क्रिया का अपूर्व-संतुलन होकर उन्हें शुद्ध-चैतन्य की अनुभूति अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया। 'अर्द्धकथानक' में स्वयं बनारसीदास लिखते हैं—

**तब बनारसी और भयो, स्याद्वाद-परिनति परिनयो,**
**अब सम्यक्-दरसन उनमान, प्रगटरूप जाने भगवान।**

अनेक-विद्वानों का यह कथन एकदम निराधार है कि, 'बनारसीदास ने अपने को श्वेताम्बर-दिगम्बर कुछ नहीं लिखा है और मूलतः वे श्वेताम्बर-श्रीमाल ही थे।' किन्तु सच्चाई यह है कि दिगम्बर-ग्रन्थ 'समयसार' एवं 'गोम्मटसार' को पाकर दिगम्बरत्व पर उनकी अटूट-आस्था हो गई थी। 'बनारसीविलास' की 'अध्यात्म पद-पंक्ति' में स्वयं बनारसीदास 'जिन प्रतिमा' का स्वरूप लिखते हैं—

**जिन-प्रतिमा जिन-सारिखी, कही जिनागम-मांहि,**
**पै जाके दूषण लगे, वंदनीक सो नाहिं।**
**मेटी मुद्रा अबुद्धि सों, कुमती कियो कुदेव,**
**विघन-अंग जिन-बिंब का, तजे समकिती सेव।**

इसप्रकार उन्होंने जिन प्रतिमा पर लेप-शृंगार आदि का स्पष्ट-निषेध किया है, इसी तरह 'बनारसी विलास' की 'साधु वंदना' में वे साधु के 28 मूलगुणों के साथ साधु का स्वरूप नग्न-दिगम्बर ही स्वीकार करते हैं—''नग्न-दिगम्बर मुद्राधार, सो मुनिराज जगत्-सुखकार।''

## बनारसीदास की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय

बनारसीदास सचमुच नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा संपन्न-महाकवि थे। यद्यपि उन्होंने दो दार्शनिक गद्य-प्रबंध भी लिखे, जो आज से चार सौ वर्ष पूर्व के हिन्दी-गद्य के नमूने माने जाते हैं, फिर भी वे मूलतः कवि ही थे। यद्यपि बनारसीदास हिन्दी-काव्य-गगन पर उभरकर नहीं आये, फिर भी उनकी रचनाओं में उनका महाकवित्व स्वतः ही मुखरित हो रहा है। बनारसीदास ने अपने जीवन में पाँच काव्य-कृतियों की सृष्टि की—1. नवरस-पदावली, 2. नाममाला, 3. समयसार-नाटक, 4. बनारसी-विलास, 5. अर्द्ध-कथानक।

**1. नवरस-पदावली**—14 वर्ष की अल्पवय में एक हजार दोहा-चौपाइयों में लिखी गई बनारसीदास की नवरस-युक्त शृंगारप्रधान यह प्रथम-कृति थी, जिसका प्रसव सचमुच बनारसीदास के चारित्रिक-स्खलन से हुआ और 19 वर्ष की अवस्था में जब उनके जीवन में सुबुद्धि का उदय हुआ, तब आत्मग्लानि में डूबकर सं. 1662 में उन्होंने अगाध-श्रम से लिखी गई अपनी इस कृति को अपने ही गोमती नदी में प्रवाहित कर नष्ट कर दिया।

अनेक विद्वानों का मन्तव्य है कि यदि नवरस-पदावली आज उपलब्ध होती, तो बनारसीदास को हिन्दी-साहित्य में बहुत बड़ा स्थान मिलता। किन्तु सचमुच विद्वानों के ये विचार अभिनंदनीय नहीं हैं।

सच्चाई तो यह है कि बनारसीदास के नाम पर सम्पूर्ण जैन-साहित्य एवं जैनधर्म ही बदनाम होता। जिस कृति से मानव-चरित्र का पतन होता हो, वह कृति स्वयं बनारसीदास की दृष्टि में साहित्य की पंक्ति में ही स्थान पाने योग्य नहीं है, बनारसीदास स्वयं ऐसे कवियों को 'कुकवि' कहते हैं। 'अर्द्धकथानक' में वे लिखते हैं—

**'ऐसे कुकवि बनारसि भये, मिथ्या-ग्रंथ बनाये गये।'**

बनारसीदास का युग हिन्दी-साहित्य का भक्ति-युग था। वे महाकवि तुलसीदास के समयकालीन थे। इसी समय तुलसी अपने महाकाव्य 'रामचरित मानस' की रचना कर रहे थे। फिर भी रीतिकाल का शृंगारी युग निकट आ रहा था। कवि राजाश्रित होकर राजाओं के उद्दीपन के लिए शृंगारिक-रचनायें करने लगे थे। अतः सचमुच बनारसीदास द्वारा नवरस-पदावली का गोमती में विसर्जन रीतिकाल के शृंगारी-कवियों को एक बहुत बड़ी-चुनौती थी।

**2. नाममाला**—महाकवि धनजंय की संस्कृत-नाममाला के आधार पर सं. 1670 में 175 दोहों में लिखी गई यह रचना हिन्दी-शब्दकोष-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण-स्थान रखती है। यह धनजंय-नाममाला का सीधा अनुवाद नहीं है, वरन् इसकी रचना में बनारसीदास काफी मौलिक प्रतीत होते हैं।

**3. समयसार नाटक**—विविध 727 छंदों में लिखी गई यह बनारसी-दास की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक-कृति है। हिन्दी-जैन-साहित्य में इस रचना का सर्वोत्कृष्ट-स्थान है। आदरणीय नाथूरामजी प्रेमी के शब्दों में 'समयसार-नाटक भाषा-साहित्य के अध्यात्म की चरम सीमा है।'

आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' उस पर आचार्य अमृतचन्द्र की

'आत्मख्याति टीका' के 279 कलश एवं उन पर पांडे राजमलजी की 'बालबोधिनी गद्य-टीका' के आधार से सं. 1693 में अध्यात्मरसिक अपने पाँच मित्रों के आग्रह से बनारसीदास ने साहित्य के शृंगार इस 'समयसार' नाटक की रचना की। आचार्य कुन्दकुन्द का 415 प्राकृत-गाथाबद्ध समयसार 9 अधिकारों में विभक्त है, किन्तु बनारसीदास का समयसार 13 द्वारों (अधिकारों) में लिखा गया है। इसके दो अधिकार 'स्याद्वाद द्वार एवं साध्य-साधक द्वार' आचार्य अमृतचंद के स्याद्वाद्व-परिशिष्ट के आधार पर काव्यबद्ध हुए हैं एवं अन्त में 'गुणस्थानाधिकार' के रूप में बनारसीदास ने साधक के जीवन में निश्चय-व्यवहार की सुसंगति की सुन्दर-योजना की है। इसप्रकार 'समयसार नाटक' साधार होने पर भी बनारसीदास के अगाध अध्यात्म-ज्ञान एवं अनूठे काव्य-कौशल के कारण मात्र अनुवाद नहीं, वरन् एक मौलिक ग्रंथ-सा प्रतीत होता है।

**4. बनारसी-विलास**—सं. 1680 से कवि के जीवन के अन्तिम-वर्ष सं. 1700 तक की छोटी-बड़ी विविधप्रकार की 57 रचनाओं का एक महत्त्वपूर्ण-संग्रह है, जिसका संकलन आगरा-निवासी अध्यात्म-स्नेही दीवान जगजीवनरामजी ने कवि के निधन के कुछ ही दिन बाद चैत्र शुक्ला 2 सं. 1700 को किया और उस संकलन का नाम 'बनारसी-विलास' रक्खा। बनारसीदास की अन्तिम-रचना 'कर्म-प्रकृति-विधान' फाल्गुन शु. सं. 1700 को पूर्ण हुई थी। संभवतः इस रचना के कुछ ही दिन बाद उनका निधन हो गया। इस संग्रह में उनकी भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं विद्वतापूर्ण दो दार्शनिक-निबन्ध 'निमित्त-उपादान की चिट्ठी' एवं 'परमार्थ-वचनिका' भी सम्मिलित हैं। ब्रजभाषा-बहुल ये निबंध उस युग के हिन्दी-गद्य के अलभ्य-नमूने हैं। बनारसी-

विलास में काव्य की विविध-विधाओं के साथ विविध राग-रागनियों में गुंथित अध्यात्म-रसाप्लवित 28 पद भी सम्मिलित हैं, जिनको यदि भिन्न-भिन्न गिना जाये, तो 'बनारसी-विलास' की रचनाओं की संख्या 80 हो जाती हैं। इन पदों में संगीत की विविध स्वर-लहरियाँ बनारसीदास को मात्र कवि ही नहीं, वरन् एक कुशल-संगीतज्ञ भी घोषित कर रही हैं, इसीलिए 'समयसार नाटक' के साथ बनारसीदास के ये पद भी घर-घर में गाए जाते थे। सचमुच 'बनारसी-विलास' कवि की दार्शनिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक काव्य क्रीड़ाओं का एक सुरभित उद्यान है, जिसमें कवि का सूक्ष्म-दार्शनिक-चिंतन, विशद-बोध, सिंधु-सा हृदय एवं काव्य का अद्‌भुत-कौशल स्पष्ट-प्रतिबिंबित हो रहा है।

**5. अर्द्ध-कथानक**—सं. 1643 (जन्म) से सं. 1698 तक बनारसीदास का यह 55 वर्ष का आत्मचरित्र है, जिसे उन्होंने सं. 1698 में लिखा और 'अर्द्धकथानक' की संज्ञा दी। स्वयं बनारसीदास के शब्दों में उस समय मनुष्य की अधिकतम-आयु 110 वर्ष मानी जाती थी, अत: अपने 55 वर्ष के इस जीवन-चरित्र को उन्होंने 'अर्द्धकथानक' कहा। 'आत्मचरित' तो सभी अधूरे अर्थात् अर्द्धकथानक ही होते हैं, क्योंकि कोई भी पुरुष अपने मरण से पूर्व का ही अपना चरित्र लिख सकता है। वैसे यह अलग बात है कि कोई भी आत्म-चरित-लेखक अपना चरित्र लिखने के बाद बनारसीदास की तरह दो वर्ष के अल्प-समय में ही मरण को प्राप्त हो जाये, तो उसका अर्द्धकथानक लगभग पूर्ण-कथानक ही बन जाता है।

बनारसीदास का मात्र 'अर्द्धकथानक' ही हिन्दी-साहित्य संसार में बहुचर्चित एक ऐसी काव्य-कृति है, जिसने उन्हें हिन्दी-साहित्य के गौरवमय-पद पर प्रतिष्ठित किया है। अपनी शेष-कृतियों से बनारसीदास

हिन्दी-साहित्य में नहीं पहिचाने जाते हैं। अर्द्धकथानक हिन्दी-साहित्य का प्रथम-आत्मचरित्र है। अपनी इस प्रख्यात-कृति में बनारसीदास ने अपने दुर्गुणों को नि:संकोच उधेड़कर रख दिया है, जो आत्मचरित्र की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है। घटनाओं की विचित्रता एवं जीवन के उतार-चढ़ाव, आत्मचरित्र की दूसरी विशेषता है, जो पढ़नेवाले का मन उस कृति में रमाये रखती है। आत्मचरित चाहे काव्य हो अथवा गद्य, भाषा की प्रवीणता एवं भावाभिव्यक्ति की क्षमता उसकी अनिवार्य साहित्यिक-विशेषता होती है। आत्मचरित्र की इस कसौटी पर 'अर्द्ध-कथानक' पूरी तरह खरा उतरा है, इससे भी बढ़कर बनारसीदास का मस्त फक्कड़पन, उनकी स्पष्टवादिता, विनोदप्रियता एवं लेखन की मनोरंजक- शैली ने 'अर्द्ध-कथानक' को विश्व के श्रेष्ठतम-आत्मचरित्रों में स्थापित कर दिया है। हिन्दी-साहित्य के निष्पक्ष-समालोचक एवं विद्वान् नाथूरामजी प्रेमी एवं बनारसीदास चतुर्वेदी ने पूरी शोध के उपरान्त 'अर्द्धकथानक' को हिन्दी का प्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ-आत्मचरित्र स्वीकार किया है। हिन्दी-साहित्य के इन विख्यात-विद्वानों ने बनारसीदास के व्यक्तित्व पर मुग्ध होकर 'अर्द्धकथानक' पर महत्त्वपूर्ण-समालोचनायें लिखी हैं।

आत्मचरित्र की अन्य-विशेषताओं के साथ उसकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी हो कि वह मात्र लेखक के दुर्गुणों का लेखा-जोखा ही न हो, वरन् पतन के बाद वह चरित्र आदर्शोन्मुख भी हो, तभी वह कृति मानव-मन की प्रेरक एवं आदर्श होगी। अन्यथा यदि आत्मचरित्र में लेखक के चारित्रिक-पतन का शब्दांकन मात्र हुआ हो, तो वह जीवन-चरित्र तो लिखने योग्य भी नहीं है और वह कृति साहित्य की सीमा में भी प्रविष्ट नहीं हो सकेगी; क्योंकि उससे कोई दिशाबोध नहीं होने

से लोकचरित्र को पतन के आयाम ही उपलब्ध होंगे। इस दृष्टि से 'अर्द्धकथानक' एक आदर्श-आत्मचरित्र सिद्ध होता है।

## बनारसीदास का साहित्यिक-मूल्यांकन

किसी भी साहित्यकार के साहित्यिक-मूल्यांकन के लिए उसके वैचारिक-परिवेश का परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा उसकी कृतियों को समझ पाना ही संभव नहीं होगा। प्राय: हर चितंक के चितंन की एक परम्परा होती है। बनारसीदास एक दार्शनिक-चिंतक थे और उनकी चिंतनधारा जैनदर्शन से सम्बद्ध रही है। यद्यपि वे हिन्दी-साहित्य के भक्ति-युग के कवि थे और महाकवि तुलसीदास के समकालीन थे। तुलसीदास से उसका स्नेह-मिलन भी हुआ था और तुलसीदास ने अपनी रामायण की एक प्रति भी कविवर बनारसीदास को भेंट की थी और उसके उत्तर में बनारसीदास ने तुलसीदास को एक परम-आध्यात्मिक-पद 'विराजै रामायण घट-मांहि' भी लिखकर भेंट किया था। फिर भी बनारसीदास का काव्य भक्ति-युग के प्रमुख कवित तुलसी, सूर, कबीर एवं जायसी से बिलकुल भिन्न-धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ है। कबीर एवं जायसी-हिन्दी साहित्य की निर्गुण-काव्यधारा एवं सूर तथा तुलसी सगुण-भक्तिधारा के प्रमुख-कवि थे। ये दोनों भक्ति-धारायें एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करती हैं, और भक्ति को ही मुक्ति का कारण मानती है। अतएव इनका समग्र-काव्य एकेश्वरवादी-भक्तिधारा में ही प्रवाहित हुआ है। सगुण-भक्तिधारा एक ही ईश्वर को सर्वव्यापक मानकर उसके विविध साकार-रूप भी स्वीकार करती है और उसके विविधरूपों की मूर्तियाँ स्थापित कर उनके माध्यम से परमात्मा की भक्ति-पूजा भी सम्पादित करती है। इसीलिए यह 'सगुणधारा' कहलाती है। सगुण-भक्ति की सिद्धि में

महाकवि सूर तर्क प्रस्तुत करते हैं कि परमात्मा के रूप, रेखा, गुण, जाति, युक्ति आदि कुछ भी नहीं होने से वह अगम है और आलंबन के बिना चंचल-मन स्थिर नहीं हो पाता अतः सूरदास सगुण-भगवान् की लीला के पद गाते हैं, वे लिखते हैं—

**''रूप, रेखा, गुण, जाति, जुगति-बिन निरालंब-मन चकृत धावे, सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन-लीला पद गावे।''**

सगुण-भक्तिधारा में महाकवि तुलसी के काव्य के आलंबन मर्यादा-पुरुषोत्तम-राम रहे। वे राम को सर्वव्यापक-ईश्वर का रूप मानकर ही अपने महाकाव्य 'रामचरित-मानस' की रचना करते हैं। वे स्वयं लिखते हैं—''सियाराम-मय सब जग जाना''। तुलसी से पूर्व कवि सूरदास भी कृष्ण के रूप में उसी निराकार-परमात्मा के मधुररूप पर मुग्ध होकर उनकी शैशव-क्रीड़ाओं से लेकर उनके जीवन के विविधरूपों को अपने काव्य में संजोते हैं। तुलसी की भक्ति 'दास्यभाव' एवं सूर की भक्ति दास्य एवं 'सख्यभाव' को लेकर प्रस्फुटित हुई है। तुलसी जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं और कहते हैं—

**'ईस्वर-अंस जीव-अविनासी, जगत-जाल में लेत न फांसी।'**

वे मुक्ति के लिए ज्ञान और भक्ति में कोई भेद स्वीकार नहीं करते, वे स्पष्ट लिखते हैं—

**'ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरे भवसागर-खेदा।'**

इसप्रकार सूर, तुलसी, मीरा आदि की सगुणधारा ज्ञान-मार्ग को आगम मानकर भक्ति के माधुर्य में ही अवगाहन करती रही है।

सगुण-भक्तिधारा से पूर्व कबीर, दादू, सहजीबाई एवं जायसी आदि हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल की निर्गुणधारा के अनेक संत-

कवि हुए, जिनमें कबीर एवं जायसी प्रमुख थे। यह निर्गुणधारा एक निराकार, सर्व-व्यापक-ब्रह्म पर तो विश्वास करती है; किन्तु सगुण-भक्ति अर्थात् मूर्तिपूजा को पाषाण-पूजा मानकर उसका विरोध करती है। इस संदर्भ में कबीर लिखते हैं—

**'दुनिया कैसी बावरी, पाथर-पूजन जांहि।**
**घर की चाकी काहे न पूजे, जाको पीस्यों खाय।।'**

यह धारा एक अखंड-ब्रह्म की अनुभूति में माया को बाधक-तत्त्व मानती है, जिसके कारण ब्रह्म के साथ एकत्व नहीं हो पाता। कबीर इस तथ्य को इसप्रकार अभिव्यक्त करते हैं—

**''जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी,**
**फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कह्यो गियानीं।''**

निर्गुणधारा प्रेम-प्रधान है और ब्रह्म के प्रति अनन्य-प्रेम इस धारा का मूल तत्त्व है। कबीर की उस ब्रह्मनुभूति का मुख्य-साधन 'हठयोग' है। कबीर का सम्पूर्ण-दर्शन एवं उनकी काव्यधारा का 'रहस्यवाद' इसी हठयोग पर अवलंबित है। उनका मानना है कि 'कुंडलिनी' जब साधना के प्रयोगों से 'सुषुम्ना' के सहारे मस्तक के उस स्थान पर पहुँचती है, जिसे ब्रह्मरंध्र कहते हैं, तो साधक स्तब्ध हो जाता है, और उसके कंठ में एक विशेषप्रकार का रस झरता है, जिसे कबीर 'अमृत' कहते है। साधक उस रस के स्वाद में तन्मय हो जाता है और इसी को कबीर 'ब्रह्मानंद' या 'ब्रह्म की अनुभूति' कहते हैं।

यद्यपि हठयोग एक कठिन-साधना है, फिर भी कबीर उसे सुखद एवं मधुर कहते हैं और उस अनुभूति को प्रणय का परिवेश देकर उसे काव्य में विविधप्रकार की रहस्यमय विधाओं में व्यक्त करते हैं, जिसे

हिन्दी काव्य में 'रहस्यवाद' कहा जाता है। कबीर ब्रह्म को 'प्रियतम' एवं अपने को 'प्रियतमा' मानते हैं और अपने प्रियतम को घट-घट वासी कहते हैं, वे लिखते हैं—

**'हरि मोर पिउ, मैं राम की बहुरिया।'**

तथा जब ब्रह्मानन्द के रूप में उनके कण्ठ में अमृत झरता है, तो वे विभोर होकर कहते हैं—

**''दुलहिन भावहु मंगलाचार, मेरे घर आये हो राजाराम-भरतार।''**

ब्रह्म की इस हठयोग साध्य-अनुभूति को कबीर ने अनेक-प्रकार की रहस्यवादी-उलटवासियों में भी अभिव्यक्त किया है। एक उलटवासी में वे लिखते हैं—

**''आकासे मुख ओंधा कुआ, पाताले पनिहारि।**
**ताका पानी को हंसा पीवे, विरला अर्थ विचारि।।''**

निर्गुण-संतों की इसी काव्य-परम्परा में सूफी-महाकवि जायसी हुए। जायसी प्रेममार्गी-शाखा के प्रमुख कवि थे। वे कबीर से कुछ हटकर चले और उन्होंने ब्रह्म की उपलब्धि की प्रक्रिया में प्रणय की मधुर-पद्धति को स्वीकार किया। कबीर की पद्धति प्रेमपरक होने पर भी उसमें हठयोग के काठिन्य की प्रधानता थी। जायसी ब्रह्म को 'प्रियतमा' एवं अपने को 'प्रियतम' मानकर साधना के पथ पर बढ़ते हैं। उनका मानना है कि ब्रह्म को प्रियतमा मानने में प्रेम के उद्रेक एवं परिपाक का असीम-अवकाश है और वहाँ ब्रह्म की उपलब्धि के मार्ग में आनेवाली कठिनाईयों को झेलने की पूरी-सामर्थ्य भी है। इसी पद्धति पर उन्होंने स्वयं मुसलमान होने पर भी राजा रतनसेन (साधक) और सिंहलद्वीप की रानी पद्मावती (ब्रह्म) की हिन्दू-लोक-कथा के

सहारे एक रहस्यवादी-महाकाव्य 'पद्मावत' की रचना की, जिसकी भाषा, भाव, माधुर्य एवं संवेदनशील अभिव्यक्ति के कारण पद्मावत के पात्रों के साथ अनायास ही साधारणीकरण हो जाता है और इसीलिए हिन्दी-साहित्य में इस कृति का विशिष्ट-स्थान है।

किन्तु महाकवि बनारसीदास का चिंतन हिन्दी-साहित्य की निर्गुण एवं सगुण-भक्तिधारा से एकदम पृथक्-कोटि का रहा है। वे भक्ति को मुक्ति का कारण नहीं मानते; क्योंकि भक्ति में साधक को ईश्वर का अवलम्बन होने से वह वृत्ति स्वयं परतन्त्र है, अतः वह मुक्ति का हेतु नहीं हो सकती। साथ ही कबीर की तरह फक्कड़-स्वभावी होने पर भी वे परमात्माओं एवं उनकी मूर्ति की पूजा-भक्ति एकलव्य की तरह मूर्तिमान् के आदर्श से मूर्तिमान् परमात्मा बनने के लिए की जाती है, मूर्तिमान् परमात्मा की कृपा से मुक्ति पाने के लिए नहीं अथवा परमात्मा के साथ मिलकर अनन्य हो जाने के लिए भी नहीं।

बनारसीदास, तुलसी एवं कबीर आदि की तरह किसी एक ऐसे परमात्मा की सत्ता में भी विश्वास नहीं करते, जो सर्वव्यापी हो अथवा अवतार धारण करता हो अथवा जो सृष्टि की रचना एवं संहार करता हो, किसी पर कृपा करता हो अथवा किसी से रुष्ट एवं तुष्ट होता हो एवं जीवों को उनके कर्म का फल देता हो। बनारसीदास के परमात्मा अनन्त हैं और वे सभी वीतराग हैं, वे सामान्यजनों की तरह जगत् के किसी भी प्रपंच में नहीं पड़ते।

किन्तु बनारसीदास का मानना है कि विश्व में अनादि से ही अनंत-जड़पदार्थ एवं अनंत-चेतन-आत्मायें विद्यमान हैं और उनका कभी भी नाश नहीं होता। प्रत्येक आत्मा में अनादि से ही परमात्मा बनने की अनंत-शक्ति अथवा स्वभाव भरे पड़े हैं; किन्तु आत्मा को

अपनी वह शक्ति 'पर' में व्यामोह के कारण अनादि से ही विस्मृत है। वही आत्मा अपने पूर्व-परमात्माओं के व्यामोह-रहित वीतराग-मार्ग का अनुशीलन करता हुआ अपने ही पौरुष से परमात्मा बन जाता है। अत: परमात्माओं की संतति भी अनादि है, जैसे प्रोफेसर के पक्ष का अनुगमन करता हुआ विनम्र-विद्यार्थी अपने ही श्रम से प्रोफेसर बनता रहा है और बनता रहेगा। पूर्ण-वीतराग मुक्त परमात्मा बन जाने पर भक्ति का भाव भी समाप्त हो जाता है; क्योंकि भक्ति का राग भी बंधन है और वह साधक-दशा तक ही रहता है। साध्य अर्थात् परमात्मदशा में उसका अभाव हो जाता है। अपने एक पद में बनारसीदास इसी संदर्भ में लिखते हैं—

**''आप लखे जब आपको, दुविधा पद मेंटै।**
**सेवक साहिब एक है, तब को किहि भेंटै।।''**

इसीतरह बनारसीदास महाकवि तुलसीदास की भाँति जीव को 'ईश्वर का अंश' स्वीकार नहीं करते, वरन् वे उसे सदैव ज्ञान एवं आनन्द जैसे अनंत-गुणों से सम्पन्न एक पूर्ण चेतन-तत्त्व स्वीकार करते हैं। 'समयसार नाटक' के 'अजीव द्वार' में वे लिखते हैं—

**''चेतनवंत अनंत-गुण, सहित सुआतम-राम।''**

वहीं चेतनतत्त्व अनादि से स्वयं ही अपनी शक्ति के विभ्रम के कारण शरीरादि अचेतन-तत्त्वों एवं मोह-रागादि अपने भीतरी-विकारों के ममत्व एवं अहं में स्वयं ही नलिनी में बद्ध तोते की तरह प्रतिबद्ध है। उसके इस बंधन के लिए बनारसीदास सम्पूर्णरूप से स्वयं आत्मा को ही उत्तरदायी मानते हैं। सूर, तुलसी एवं कबीर के काव्य में भी हमें बनारसीदास के इस विश्वास का समर्थन मिलता है। तुलसीदास जीव के अज्ञान की इसी स्वतन्त्रता के समर्थन में लिखते हैं—

**''सो माया बस भयहु गुसांई, बंध्यो कीर-मरकट की नाई।''**

इसी की पुष्टि में सूरदास जी कहते हैं—

**'अपुनपो आपुन ही विसर्‌यो,**
**जैसे श्वान काच-मन्दिर में भ्रमि-भ्रमि भूंकि पर्‌यो।**
**सूरदास 'नलिनी को सुवटा' कहि कोने जकर्‌यो।।'**

इस सन्दर्भ में कबीर तो और भी आगे पहुँचे हैं। वे भगवान् को भी नहीं छोड़ते और भगवान् के विविध रूपों को वे माया (अविद्या) के ही रूप मानते हैं, अपने एक पद में वे लिखते हैं—

**''माया महाठगिनि हम जानी,**
**निरगुण फाँस लिए कर डोले, बोले मधुरबानी।**
**केसव के कमला ह्वै बैठी, सिव के भवन भवानी।**
**पंडा के मूरत ह्वै बैठी, कहू के कौड़ी-कानी,**
**कहत कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ-कहानी।''**

इसप्रकार जीव के अज्ञान अथवा माया में सम्पूर्णरूप से जीव की ही भूल स्वीकार करने पर भी हिन्दी-साहित्य की समग्र निर्गुण अथवा सगुणधारा एकेश्वरवादी होने के कारण जीव के जीवन में किसी न किसी रूप में ईश्वर का हस्तक्षेप स्वीकार करती रही है; किन्तु इस संबंध में बनारसीदास का मन्तव्य एकदम-भिन्न और मनोवैज्ञानिक है। वे विश्व के जड़ या चेतन, किसी भी पदार्थ के कार्य में ईश्वर का हस्तक्षेप तो बहुत दूर, पदार्थों के अपने-अपने कार्य में पारस्परिक-हस्तक्षेप का भी अत्यन्त-निषेध करते हैं। 'समयसार नाटक' के 'कर्त्ता-कर्मद्वार' में वे लिखते हैं—

**''जीव चेतना-संजुगत, सदापूर्ण सब ठौर।**
**तातैं चेतनभाव को, कर्त्ता जीव न और।।''**

तथा

**''पुद्गल परिणामी-दरब, सदा परिनवै सोई।**
**तातैं पुद्गल-करम को, कर्त्ता पुद्गल होई।।''**

इसीप्रकार बनारसीदास जीव के बंधन एवं मुक्ति में जीव की पूर्ण-स्वाधीनता की घोषणा करते हैं। वे लिखते हैं—

**''अहंबुद्धि मिथ्यादास, धरै सो मिथ्यावंत।**
**विकल भयो संसार में, करै विलाप-अनंत।।''**

—(बंधद्वार)

**''पर की संगति जे रचे, बंध बढ़ावे सोई।**
**जो निज-सत्ता में मगन, सहज-मुक्त सो होई।।''**

—(मोक्षद्वार)

''जो अपने से भिन्न-तत्त्वों के अहं में परिणत है, वही मिथ्यादृष्टि है और वह व्याकुल होता हुआ संसार में अनंत-विलाप करता है और पर का ममत्व तोड़कर जो निज चैतन्य-सत्ता में लीन हो जाता है, वह सहज ही मुक्त होकर वीतराग-परमात्मा बन जाता है।''

बनारसीदास ने मुक्ति-तत्त्व के रूप में जिस वीतराग-भाव को दृढ़ता से स्वीकार किया है, वह सम्पूर्ण ही सगुण एवं निर्गुण काव्यधारा में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि ये भक्तिधारायें पाप का निषेध करती हैं, किन्तु प्रभु-भक्ति अथवा प्रेम के पुण्य-भाव की चरम-सीमा को ही मुक्ति कहती हैं। बनारसीदास मुक्ति में पाप एवं पुण्य दोनों को बंधन कहकर उनका अत्यन्त-निषेध करते हैं। 'समयसार नाटक' के 'पुण्य-पाप-एकत्व द्वार' में वे कहते हैं—

**''पाप-बंध, पुण्य-बंध, दुहू में मुकति नाहिं''**

आगे फिर वे लिखते हैं–

**''एते पर कहे जो कि पाप बुरो, पुण्य भलो।**
**सो ही महामूढ़ मोख-मारगसों चुक्यो है।।''**

यद्यपि बनारसीदास का विनम्र एवं चतुर-भक्त वीतराग-परमात्माओं की प्रचुर-भक्ति तो करता है, क्योंकि उसका मानना है कि मुक्तिमार्ग की रचना अपने पौरुष से भक्ति की विनम्र एवं कोमल-भूमि में ही होती है, अभिमान के पाषाणों पर नहीं। किन्तु वह भगवान् से उस विनम्र एवं चतुर-विद्यार्थी की तरह निरपेक्ष रहता है, जो अपने प्रोफेसर का असीम-सम्मान करता हुआ भी उससे सफलता नहीं चाहता; वरन् सम्पूर्णरूप से अपने बौद्धिक-श्रम पर ही अवलम्बित रहता है। अतएव बनारसीदास भक्ति को बाह्य-साधन स्वीकार करते हैं, और मुक्ति में भक्ति का अभाव मानते हैं। वे कहते हैं–

**'ज्ञान बिना सिव-पंथ न सूझे।'** –(निर्जरा द्वार)

'निर्जरा द्वार' में ही वे पुनः स्पष्ट लिखते हैं–

**''लीन भयो विवहार में, उकति न उपजे कोय।**
**दीन भयो प्रभु पद जपे, मुक्ति कहाँ ते होय।''**
**प्रभु सुमिरो, पूजा पढ़ो, करो विविध-विवहार।**
**मोख-सरूपी आतमा, ज्ञान-गम्य निरधार।**
**बहुविधि क्रिया-कलेस सों, सिव-पद लहे न कोय।**
**ज्ञान-कला-परकास सों, सहज मोख-पद होय।''**

आत्मा की निर्विकल्प-अनुभूति के विषय में बनारसीदास कहते हैं कि जब निर्मलज्ञान का उदय होता है, तो अपना चैतन्य-शरीर और रागादि सभी से भिन्न दिखाई देता है। वे लिखते हैं–

**''वरनादिक रागादि यह, रूप हमारो नांहि।**
**एक ब्रह्म नहीं दूसरो, दीसे अनुभव-मांहि।।''**

सचमुच बनारसीदास की यह मुक्ति-कला एकदम बुद्धिसंगत, तर्क-संगत एवं मनोवैज्ञानिक है और हृदय को सहज ही स्वीकृत हो जाती है।

'समयसार नाटक' के आधार पर बनारसीदास के वैचारिक-परिवेश के पर्यालोचन से यह बात तो निर्विवाद है कि उनके साहित्य का भावपक्ष भक्तिवाद की अपेक्षा गूढ़ प्रतीत होने पर भी अत्यन्त-सरल एवं हृदयग्राही है। उनकी अनेक-रचनाओं का संग्रह 'बनारसी-विलास' भी उनके दार्शनिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक आदि विविध-विषयों पर उनके विशुद्ध, सूक्ष्म एवं व्यापक-चिंतन का एक अद्‌भुत-रसास्वादन है। बनारसीदास के समग्र-साहित्य में उनका भाव-पक्ष जितना परिपुष्ट है, उनका कला-पक्ष भी उतना ही सबल है। काव्य के सभी अपेक्षित-गुण उनके साहित्य में समन्वित हैं। भाव-गांभीर्य, मधुर एवं प्रसादयुक्त भाषा का स्निग्ध-प्रवाह, भावाभि-व्यक्ति की अद्‌भुत-क्षमता, समृद्ध-शब्दकोष, विविध-अलंकारों की सहज-छटा, सृजनात्मक-प्रतिभा, प्रखर कल्पना-शक्ति, उर्वर-दृष्टान्त शैली, आकर्षक रचना-कौशल एवं सिंधु-सा उदात्त-हृदय आदि विविध-विशेषताओं से समलंकृत बनारसीदास का काव्य वास्तव में हिन्दी-साहित्य की अक्षयनिधि है।

यद्यपि बनारसीदास महाविद्वान् थे, किन्तु अपनी आत्मकथा से लेकर गम्भीर आध्यात्मिक-तत्त्व भी उन्होंने सरल एवं सुबोध लोकभाषा में लिखा, क्योंकि जीवन के मणि-मुक्ताओं से भरा वह तत्त्व उन्हें जन-जन तक पहुँचाना था। यद्यपि 16वीं, 17वीं शताब्दी में भी अपभ्रंश में बहुत रचनायें लिखी गईं, किन्तु बनारसीदास की भाषा सरल-हिन्दी

ही रही। उन्होंने कभी भी अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन नहीं किया क्योंकि लोक-भाषा में ही जीवन-तत्त्व लोक-जीवन में आत्मसात् हो सकता है।

बनारसीदास काव्य-कला के एक उच्चकोटि के चितेरे थे। उनका जीवन हिन्दी-साहित्य के भक्ति-युग के संत-कवियों की तरह निश्चित, सुखमय एवं मस्त नहीं था, वरन् वे सदा ही विविध पारिवारिक एवं लौकिक-कठिनाइयों से आक्रांत रहे; फिर भी उन्होंने उच्चकोटि की काव्य-रचना की कि जो कार्य विशिष्ट-प्रतिभा एवं अद्‌भुत मानसिक-संतुलन से ही सम्भव हो सकता है।

'बनारसी-विलास' की चित्ताकर्षक काव्य-वाटिका में बनारसीदास ने अपनी सर्वतोमुखी काव्य-प्रतिभा से निर्गुण-संतों की तरह शुद्ध-चैतन्य को प्रियतम एवं सुमति (अनुभूति) को प्रियतमा मानकर बड़ी मधु-रहस्यवादी काव्य-क्रीड़ायें की हैं। 'बनारसी-विलास' के अध्यात्म-गीत में वे लिखते हैं—

**''मैं विरहिन प्रिय के अधीन, यों तोड़-फोड़ ज्यों जल-बिन मीन।**
**प्रिय मोरे घट मैं पिय-मांहि, जल-तंरग ज्यों दुविधा नांहि।**
**बाहिर देखूँ तो श्रिय दूर, घट देखे घट में भरपूर।**
**पिय सुखसागर मैं सुख-सींव, पिय शिवमंदिर मैं शिवनींव।**
**पिय-ब्रह्मा मैं सरस्वती-नाम, पिय-माधव मो कमला-नाम।**
**पिय-शंकर मैं देवि-भवानि, पिय-जिनवर मैं केवल-वानि।**
**पिय-भोगी मैं भुक्ति-विशेष, पिय-जोगी मैं मुद्रा-भेष।**
**जहं प्रिय तहं मैं पिय के संग, ज्यों शशि हरि में ज्योति-अभंग।''**

इसीप्रकार 'बनारसी-विलास' की 'पहेली' नामक कविता में बनारसीदास इसी रहस्यवादी-पद्धति में सुमति एवं कुमति को ब्रज-वनिता के रूपक में प्रस्तुत करते हैं—

**''कुमति सुमति दोऊ ब्रज-वनिता, दोउ को कंत अवाची।**
**वह अजान पति-मरम न जाने, यह भरतासों राची।।''**

'बनारसी-विलास' के एक सुन्दर 'बरवै' छंद में बनारसीदास मीरा की शैली में प्रियतम एवं प्रियतम के तादात्म्य की पराकाष्ठा में सर्व-प्रतिबंधों को अनावृत्त कर देते हैं। वे कहते हैं—

**''बालम! तुहुँ तन-चितवन गाग फूटि।**
**अंचरागी फहराय, सरम गई छूटि।**
**हूँ तिक रहूँ जे रजनी घोर।**
**घर करके उनजाने चहुँ दिसि चोर।**
**पिउ-सुधि आवत वन में पेसिउ पेलि।**
**छाँड़उ राज डगरिया भयउ अकेलि।''**

बनारसीदास विविध-भाषाविद् विद्वान थे। उन्होंने पंजाबी-भाषा में भी बड़ी सुन्दर आध्यात्मिक-रचना की है। 'बनारसी-विलास' की 'मोक्ष पैड़ी' में उनकी पंजाबी-भाषा की काव्य-क्रीड़ा देखने योग्य है। उसकी कुछ पंक्तियों में वे लिखते हैं—

**''इक्क समय रुचिवंतनों, गुरु अक्खै सुनमल्ल।**
**जो तुझ अन्दर चेतना बहे तुसाड़ी अल्ल।**
**ए जिनवचन सुहावने सुन चतुर छयल्ला।**
**अक्खै रोचक शिक्खनों गुरु दीनदयल्ला।**
**यह सतगुरुदी देसना, कर आसवदी वाड़ि।**
**लद्धी पैड़ी मोखदी, करम-कपाट उघाड़ि।''**

न केवल दार्शनिक एवं आध्यात्मिक, वरन् रूढ़िग्रस्त-लौकिक एवं धार्मिक-पदों की भी निष्पक्ष-व्याख्या बनारसीदास ने प्रस्तुत की है, बनारसीदास के समय गोरखनाथ के पद एवं गीत भी बहुलता से

गाये जाते थे, क्योंकि गोरखनाथ एक नैतिक-पुरुष हुए हैं। 'बनारसी-विलास' में 'गोरखनाथ के वचन' रचना में बनारसीदास बाह्याडंबर का खुला-निषेध करते हुए लिखते हैं—

**''जो घर-त्याग कहावे जोगी, घरवासी को कहे जो भोगी।**
**अन्तर-भाव न परखे जोई, गोरख बोले मूरख सोई।**
**पढ़ ग्रंथहि जो ज्ञान बखानै, पवन-साध परमारथ मानै।**
**परम-तत्त्व के होहिं न मरमी, कह गोरख सो महा-अधर्मी।**
**माया-जोर कहैं मैं ठाकर, माया गये कहावै चाकर।**
**माया-त्याग होय जो दानी, कह गोरख तीनों अज्ञानी।**
**सुन रे! बाबा चुनियां मुनियां, उलटवेध सों उलटी दुनियाँ।**
**सतगुरु कहै सहज का धंधा, वाद-विवाद करै सा अंधा।।''**

इसीप्रकार 'बनारसी-विलास' की 'चातुर्वर्ण' रचना में जातिगत-भेदभाव पर प्रहार करते हुए बनारसीदास चार-वर्णों की कर्म-प्रधान-व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं—

**''जो निश्चय-मारग गहै, रहै ब्रह्म-गुण लीन।**
**ब्रह्म-दृष्टि सुख-अनुभवे, सो 'ब्राह्मण' परवीन।**
**जो निश्चय-गुण जानिके, करे शुद्ध-व्यवहार।**
**जीते सेना-मोह की, सो 'क्षत्री' भुजमार।**
**जो जाने व्यवहार-नय, दृढ़-व्यवहारी होय।**
**शुभ-करणी सो रमि रहे, 'वैस्य' कहावै सोय।**
**जो मिथ्यामत आदरे, राग-द्वेष की खान।**
**बिन-विवेक करणी करे, 'शूद्र' वर्ण सो जान।''**

इसीप्रकार 'वैद्य आदि के भेद' रचना में मुसलमान का स्वरूप भी हृदयग्राही है—

**''जो मन मूसे आपनो, साहिब के रुख होय।**
**ज्ञान-मुसल्ला गहि टिकै, मुसलमान है सोय।।''**

सचमुच सामाजिक एवं राष्ट्रीय-एकता का जयघोष करनेवाली 'बनारसी-विलास' की ये रचनायें न केवल साहित्य, वरन् राष्ट्र की भी चिरस्थायी सम्पत्ति के रूप में सम्मानित होती रहेंगी। आज से चार सौ वर्ष-पूर्व छूतछात एवं ऊँच-नीच की भावनावाले युग की इन रचनाओं में यह स्पष्ट सुनाई दे रहा है कि जैनदर्शन का न केवल दार्शनिक एवं आध्यात्मिक, वरन् सामाजिक-चितंन भी कितना निष्पक्ष, उदार, सविवेक एवं व्यापक है। बनारसीदास का 'अर्द्धकथानक' भी उनके व्यक्तित्व की ऐसी ही अनेक विलक्षणताओं से समृद्ध एक अनूठी साहित्यिक-रचना है।

## अर्द्धकथानक एवं बनारसीदास का बहुआयामी व्यक्तित्व

आत्मचरित की सभी विशेषताओं से संयुक्त हिन्दी की प्रथम एवं श्रेष्ठ-आत्मकथा होने के साथ 'अर्द्धकथानक' के अनगिन ऐसे अनेक असामान्य-परिवेश हैं, जो हर आत्मचरित में सुलभ नहीं होते और जिनमें बनारसीदास का बहुमुखी-व्यक्तित्व स्वतः ही मुखर हो रहा है।

'अर्द्धकथानक' के संबंध में एक प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है कि सं. 1698 में इस ग्रन्थ को लिखने से पूर्व अपने चैतन्य की अनुभूतिपूर्वक बनारसीदास अध्यात्म की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे और वही उनके चितंन का प्रमुख-केन्द्र बन गया था। फिर भी बनारसीदास को अपना आत्मचरित लिखने की बात क्यों सूझी? 'समयसार-नाटक' जैसा महागम्भीर एवं महामंगलमय-ग्रन्थ लिख चुकने के बाद कोई व्यक्ति अपना चरित्र लिखने का विकल्प सोच सकता है?—यह बात मन को आसानी से स्वीकृत नहीं होती।

किन्तु सच्चाई यह है कि बनारसीदास का व्यक्तित्व ही निराला था। वे यद्यपि पूर्ण-आध्यात्मिक पुरुष थे, किन्तु उनकी पैनी-प्रज्ञा एवं मानसरोवर से मानस में भाषा, साहित्य, समाज एवं देश के इतिहास के प्रति भी पर्याप्त-स्थान खाली था, और उनके उदार-चरित्त में अवस्थित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की यह आतुरता 'अर्धकथानक' को मूर्त्तरूप देने में एक महत्त्वपूर्ण-पृष्ठभूमि रही है।

बनारसीदास जानते थे कि आपबीती-घटनाओं से सम्बद्ध वे जो कुछ भी लिखेंगे, वह भविष्य का असंदिग्ध एवं प्रामाणिक-इतिहास बन जायेगा, और सचमुच हुआ भी ऐसा ही है। उन्होंने आत्म-चरित के बहाने हिन्दी-भाषा, साहित्य, समाज एवं देश के इतिहास को जो प्रामाणिक एवं मूल्यवान्-तथ्य प्रदान किये वे अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं।

'अर्द्धकथानक' का प्रारम्भ करते ही हिन्दी-भाषा के इतिहास के प्रति उनकी सजगता के दर्शन होते हैं। वे 'अर्द्धकथानक' की भाषा का नाम लिखना नहीं भूलते और उसे 'मध्यप्रदेश की बोली' कहते हैं। वे लिखते हैं—'**मध्य-देसा की बोली बोलि, गर्भित-बात कहौं हिय खोलि।**'

साथ ही वे यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि 'मैं अपने भीतर की बात हृदय खोलकर कहूँगा', और पूरे 'अर्द्ध-कथानक' में आत्मचरित की सबसे बड़ी-विशेषता के रूप में उन्होंने इस प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है। उन्होंने सभी कुछ उन्मुक्त-भाव से लिखा है। यदि वे किसी अनुरोध से किसी घटना की अभिव्यक्ति में संकोच करते, तो न केवल वह घटना, वरन् उससे सम्बद्ध अन्य-घटनाओं से उपलब्ध महत्त्वपूर्ण-ऐतिहासिक सामग्री से आज हम वंचित रह जाते।

बनारसीदास ने 'अर्द्धकथानक' की आपबीती एवं आँखों-देखी

घटनाओं के माध्यम से 17वीं शताब्दी के भारतीय सामाजिक-जीवन, राजनीति एवं मुगल-समाज के जीवन्त-चित्र प्रदान किये हैं। उस युग में मुगल-शासन की निरंकुशता एवं राजनीतिक-अस्थिरता से प्रजा सदा भयभीत रहती थी। चोर एवं डाकुओं के कारण आवागमन एवं व्यावसायिक-कठिनाइयों से लोग बहुत-दु:खी थे। लोकजीवन जंत्र, मंत्र, तंत्र, देवी-देवताओं के अंधविश्वास, आडम्बर एवं रुढ़ियों से जकड़ा हुआ था। ब्राह्मण एवं भाटों के अतिरिक्त वणिक-पुत्रों का अधिक पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ समझा जाता था। बनारसीदास कहते हैं—

**''बहुत पढ़े बामन और भाट, वणिक-पुत्र तो बैठे हाट।**
**बहुत पढ़े सो माँगे भीख, मानहु पूत बड़े की सीख।''**

अर्द्धकथानक में बनारसीदास ने जौनपुर में रहनेवाले शूद्रों के छत्तीस भेदों के नाम भी गिनायें है, जिन्हें 'छत्तीस-पौन' कहते हैं। आज 36 नामों की तालिका कहीं उपलब्ध नहीं होती। उन्होंने अपने जीवन में अकबर, जहाँगीर एवं शाहजहाँ—इन तीन मुगल-बादशाहों का शासन देखा। मुगल-शासन एवं जीवन की प्रमुख घटनाओं के संवत्, तिथियाँ एवं दिनों तक का उल्लेख करके बनारसीदास ने 'अर्द्धकथानक' की प्रामाणिकता की पूरी-गारण्टी दी है। आपबीती होने के कारण 'अर्द्धकथानक' में बिना श्रम के ही एक शिलालेख की तरह असंदिग्ध तथ्य उपलब्ध हो जाते हैं और यह उपलब्धि इतिहास का प्राण होती है। अन्यथा इतिहासकारों को तथ्य की शोध में जो श्रम एवं कठिनाई होती है, उसे वे ही जानते हैं और फिर भी सच्चे-इतिहास नहीं बन जाते। समाज एवं देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व का इतना गहरा-अनुभव करनेवाला बनारसीदास का यह व्यक्तित्व सचमुच बरबस ही हमारे मन को मोह लेता है।

'अर्द्धकथानक' में बनारसीदास के व्यक्तित्व के और भी अनेक प्राजंल-परिवेश समाहित हैं। वह मात्र एक आत्म-चरित ही नहीं, वरन् विषमतम-परिस्थितियों, घटनाचक्रों एवं अन्धविश्वासों से घिरे लोक-जीवन के लिए एक स्थायी आलोक-स्तंभ भी है। उन्होंने लोक जीवन में परिव्याप्त अन्ध-विश्वासों एवं आडम्बरों तथा उनकी विफलताओं पर करारे प्रहार किये हैं। उनके पिता खरगसेन प्रथम-पुत्र के निधन के बाद जब पुनः पुत्र-प्राप्ति के लिए सं. 1637 में सपरिवार अपने नगर 'रोहतगपुर' 'सती की जात' को गये, तब मार्ग में चोरों ने सब कुछ लूट लिया। उस पर व्यंग्य करते हुए बनारसीदास लिखते हैं—

**''गये हुते माँगन को पूत, यहु फल दीनी सती अऊत।**
**प्रगटरूप देखे सब फोक, तऊ न समुझे मूरख-लोग।।''**

इसीप्रकार सं. 1662 में अकबर की मृत्यु का वृत्तांत सुनते ही जब वे मूर्छित होकर सीढ़ियों से गिर पड़े और सिर फट गया, तब वे शिव के परम-भक्त थे। ठीक होने पर कुछ दिन बाद जब उन्हें विचार आया, तो उन्होंने मन ही मन कहा—

**'जब मैं गिर्‌यो पर्‌यो मुरझाय, तब शिव कछु न करी सहाय।'**

और इस घटना से सारे अंधविश्वासों का विसर्जन होकर उनका जीवन ही बदल गया।

इसीतरह अपनी सभी 9 सन्तानों के वियोग से उत्पन्न दुःख की प्रतिक्रिया में, 'ज्यों जाको परिग्रह घटे, त्यों ताको उपसांति' तथा 'जैसा बोवै, तैसा लुने' जैसे सूत्र एवं सिद्धान्तों से भरा 'अर्द्धकथानक' एक भव्य-उपदेश-रत्नाकर-सा लगता है, जिसमें विषमताओं के बीच समता की अनुभूति के लिए त्रैकालिक-समाधान प्रस्तुत किए गए हैं।

'अर्द्धकथानक' में बनारसीदास का व्यक्तित्व उस समय गगन को

छूने लगता है, जब हम उन्हें हिन्दू एवं मुसलमान में एकत्व का दर्शन करते पाते हैं। सं. 1662 में अकबर की मृत्यु का समाचार सुनते ही वे मूर्छित होकर नीचे गिर पड़े। यह तो एक व्यक्तिगत-घटना भी हो सकती है, किन्तु मुगलों के अत्याचारों के समय भी उन्होंने सांप्रदायिक-स्तर पर कभी मुसलमानों का विरोध नहीं किया। उनकी इस राष्ट्रीय-चेतना एवं मानवतावादी-क्रांति के सशक्त-स्वर हमें उनकी 'बनारसी-विलास' की रचना 'एकरूप हिन्दू-तुरक' में स्पष्ट सुनाई देते हैं। इस रचना में उनकी अध्यात्मनिष्ठा, समाजवादी एवं साम्यवादी-क्रांति पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। वे लिखते हैं कि जैसे 'शोभा' एवं 'जेब' पर्यायवाची शब्द हैं, उसीप्रकार हिन्दू और मुसलमान पर्यायवाची हैं। जो उन्हें रंग-बिरंगी-चाम से देखते हैं, उन्हें उनमें दुविधा अर्थात् भेद लगता है, किन्तु मेरी आँखों से देखने पर तो दोनों के भीतर समान 'आत्माराम' के ही दर्शन होते हैं। वे लिखते हैं—

**''तिनको दुविधा जे लखें, रंग-बिरंगी चाम।**
**मेरे नैनन देखिए, घट-घट अन्तर राम।।''**

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया; किन्तु किसे पता है कि गांधीजी से 350 वर्ष पहिले भी एक ऐसे गाँधीजी विद्यमान थे, जो एक ही इन्सान की दो पर्याय हिन्दू-मुसलमान में अलगाव अनुभव करने से उत्पन्न सामाजिक एवं राष्ट्रीय-संघर्षों को समाप्त कर समग्र-मानवता को एक ही धरातल पर खड़ा देखना चाहते थे। निश्चित ही 'अर्द्धकथानक' में बनारसीदास का यह व्यक्तित्व मात्र एक आत्मचरित-लेखक के रूप में ही नहीं, वरन् एक आदर्श लोक-दृष्टा एवं लोक-सृष्टा के रूप में मुखरित हुआ है।

इसप्रकार समग्र ही दृष्टि से बनारसीदास के सम्पूर्ण-साहित्य का आलोड़न करने पर वे स्वत: ही कबीर, जायसी, सूर एवं तुलसीदास जैसे महाकवियों की कक्षा में स्थापित हो जाते हैं। जहाँ इन महाकवियों ने 'एकेश्वरवादी कर्त्तावाद का दर्शन' एवं 'भक्ति का मुक्तिमार्ग' हिन्दी-साहित्य को दिया, वहीं बनारसीदास ने 'एकेश्वरवादी कर्त्ता-दर्शन' से भिन्न 'अकर्त्ता-दर्शन' एवं ज्ञान का 'मनोज्ञ-मुक्तिमार्ग' हिन्दी-साहित्य को प्रदान किया।

किन्तु बनारसीदास के विपुल-साहित्य में से मात्र 'अर्द्धकथानक' ही हिन्दी का प्रथम-आत्मचरित होने से हिन्दी-साहित्य में चर्चित हुआ। सचमुच यह हिन्दी-साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि राधा एवं कृष्ण पर सामान्य से सामान्य गेय, पद लिखनेवाले भक्त-कवि एवं घोर-शृंगारी काव्य की रचना करनेवाले विद्यापति, ठाकुर, रसखान एवं बिहारी जैसे कवियों को तो हिन्दी-साहित्य में उच्चकोटि का स्थान दिया गया। यहाँ तक कि भक्ति-शिरोमणि सूर भी शृंगार के दोष से मुक्त नहीं रह सके और इन्होंने भी नारी की शरीर-रचना पर 'अद्‌भुत एक अनुपम बाग' जैसे शृंगारी-रचना लिख डाली; किन्तु बनारसीदास एवं उन जैसे लोकचरित्र के उन्नायक अनेक महाकवियों को मात्र 'जैन धार्मिक एवं साम्प्रदायिक' मानकर हिन्दी काव्य-गगन से सर्वथा-उपेक्षित रक्खा गया।

यह एक शुभ-संयोग ही लगता है कि आज के निष्पक्ष-समालोचक एवं इतिहासकार इस भूल का अनुभव करने लगे हैं। इस संबंध में हिन्दी साहित्य के निष्पक्ष-इतिहासकार माननीय श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' में बड़ी मार्मिक-मीमांसा की है। वे लिखते हैं, 'इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की

जो विपुल-सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ धार्मिक-सम्प्रदाय की मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त एवं धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक-साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक-कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे, तो तुलसीदास का 'रामचरित-मानस' भी साहित्य के क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य की सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।'

सचमुच प्राय: समग्र ही जैन-साहित्य की रचना का परिवेश धार्मिक रहा है। सही-स्थिति तो यह है कि धर्म को साहित्य से अलग किया ही नहीं जा सकता; क्योंकि उससे अलग हो जाने पर साहित्य के पास बच ही क्या जायेगा? और धर्म-शून्य साहित्य से लोक-निर्माण की क्या आशा की जा सकेगी?

जैन-साहित्य में 'अर्द्धकथानक' के रूप में मात्र हिन्दी का प्रथम-आत्मचरित ही नहीं रचा गया, वरन् 8वीं शताब्दी में 'हिन्दी का आदि-काव्य' भी जैन-साहित्य में ही रचा गया। जिसके रचयिता महाकवि 'स्वयंभू' जैन ही थे। महाविद्वान् राहुल सांकृत्यायन और माननीय श्री हजारीप्रसाद द्विवेद्वी ने पूरी-शोध के बाद स्वयंभू को 'हिन्दी का आदि-कवि' स्वीकार किया है। जैन-साहित्य की यह एक गरिमा है, जिसे कोई हिन्दी-लेखक भुला नहीं सकता। स्वयंभू ने 'हरिवंशपुराण' एवं 'रामायण' को देशीभाषा (पुरानी-हिन्दी) में रचकर अपना नाम ही अमर नहीं किया, वरन् हिन्दी-जैन-साहित्य का भरपूर गौरव बढ़ाया है। महाविद्वान् राहुल सांकृत्यायन तो स्वयंभू के संबंध में लिखते हैं— ''स्वयंभू कविराज कहे गये हैं, किन्तु इतने से स्वयंभू की महत्ता को

नहीं समझा जा सकता। मैं समझता हूँ कि 8वीं शताब्दी से लेकर 20वीं शताब्दी तक की तेरह शताब्दियों में जितने कवियों ने अपनी अमर-कृतियों से हिन्दी कविता-साहित्य को पूरा किया है, उनमें स्वयंभू सबसे बड़े-कवि हैं। मैं ऐसा लिखने की हिम्मत नहीं करता, यदि हिन्दी के कुछ ही जीवित चोटी के कवियों ने स्वयंभू-रामायण के उद्धरणों को सुनकर यही राय प्रकट नहीं की होती।''

सचमुच महाकवि स्वयंभू का हृदय जिनेन्द्रभक्ति से ओतप्रोत है। वे अत्यन्त-सरल भी हैं। जब वे अपना 'अरिट्ठणेमिचरिउ' (हरिवंश-पुराण) लिखने बैठते हैं, तो बड़े भोलेपन से कहते हैं कि ''क्या करूँ, हरिवंश महार्णव को कैसे तिरूँगा?''' हरिवंश-पुराण' के प्रारम्भ में ही वे अपनी पुरानी-हिन्दी की सीधी-सादी भाषा में कहते हैं—

**'चितवइ सयंभू काइ करम्मि, हरिवंश-महण्णउ कैं वरिम्मि।**
**गुरुवयण-तरंडउ लद्धुणवि, जम्महो विण जोइउ कोवि कवि।'**

'स्वयंभू विचार करते हैं कि क्या करूँ? हरिवंश-महासागर को कैसे तिरूँगा? गुरु के वचनों की नौका से ही पार जाऊँगा; क्योंकि उसके बिना तो कोई भी कवि नहीं जा सकता।'

स्वयंभू जैसे महाकवियों की शृंखला में उत्पन्न महाकवि बनारसीदास भी साहित्य की कसौटी पर सर्वांग-परीक्षित होकर पूरीतरह खरे उतरे हैं। नि:सन्देह उनका समग्र-साहित्य लोक-मांगल्य के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ है, क्योंकि यह लोकजीवन की संरचना के बहु-मूल्य-तत्त्वों से भरा है। उनके 'अर्द्धकथानक' से मात्र हिन्दी-जैन-साहित्य का नहीं, वरन् लोक-साहित्य में हिन्दी का मस्तक ऊँचा हुआ है।

सचमुच यदि बनारसीदास जैसे महाकवि एवं महामानव हिन्दी-साहित्य को उन्मुक्त-भाव से स्वीकृत हो जाते, तो हिन्दी-साहित्य का कोष तो असधारणरूप से समृद्ध होता ही, किन्तु उसे कवि जायसी, सूर एवं तुलसी के भक्तिमार्ग से विलक्षण जो अनूठे-सिद्धान्त एवं विशुद्ध-ज्ञान-साध्य मुक्तिमार्ग का जो अनुपम-तत्त्व मिलता, उससे हिन्दी-साहित्य में एक ऐसा वैज्ञानिक एवं अभूतपूर्व-अध्याय जुड़ता, जिससे हिन्दी-साहित्य आज तक वंचित रहा है और वह हिन्दी-साहित्य की एक महान्-उपलब्धि होती।

आज के निष्पक्ष एवं महामना-साहित्यकारों के चरणों में मेरी यह वेदना ससम्मान-समर्पित है।

❀❀❀

उनके क्षणभर के जीवन से, यह जीवन ही लहरा जाता।
यदि थोड़ा भी हमने उनसे, जोड़ा होता जीवन-नाता।।

---

महापुरुष तो जग में आते जाते जग को दे जाते हैं।
किन्तु जौहरी ही हीरों का अद्‌भुत मोल चुका पाते हैं।।

# एक महान्-व्यक्तित्व : आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

पण्डितप्रवर टोडरमल हिन्दी-जैन-जगत् के एक अद्वितीय-विद्वान हैं। हिन्दी-जैन-जगत् में उनकी समता का दूसरा विद्वान् नहीं हुआ। उनके पूर्व एवं पश्चात् हिन्दी-जैन-जगत् में अनेक गद्य-पद्यमय मौलिक-रचनाओं की सृष्टि हुई है, किन्तु वे सब मिलकर भी पण्डित टोडरमल के असाधारण-महत्त्व को प्रभावित नहीं कर सकीं। अपने समय के विद्वद्वर्ग में पण्डित टोडरमल सर्वोच्च एवं बेजोड़ हैं। उनकी प्रसिद्ध मौलिक-रचना 'श्री मोक्षमार्गप्रकाशक' में उनकी सर्वतोमुखी-प्रतिभा की अजस्त्रधारा प्रवाहित हुई है। मोक्षमार्ग के गूढ़ एवं शुष्क-विषय को इतनी सुन्दरता से उठाया है कि हृदय उसमें डूबता ही चलता है। कहीं भी अस्वाभाविकता से हृदय ऊबता नहीं है। सम्पूर्ण ही मोक्षमार्गप्रकाशक में एक ऐसा औपन्यासिक-प्रभाव है कि आरम्भ करने के उपरान्त छोड़ने को जी नहीं चाहता। दर्शन, साहित्य, तर्क, न्याय, व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार, संस्कृत, गणित तथा धर्म-संबंधी उनका ज्ञान असामान्य था। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' यद्यपि मुक्तिमार्ग का प्रतिपादक एक धर्म-ग्रन्थ है; किन्तु उसमें भाव एवं भाषा का अद्भुत-समन्वय हुआ है। 'ढूँढ़ारी' जैसी साधारण-भाषा में विषय की गहनता तथा भावों के भार को ऐसी कुशलता से सम्भाला गया है कि आश्चर्य उत्पन्न होता है। भाव एवं भाषा इस तरह सटकर चले हैं कि

उनका वियोग कहीं देखने को नहीं मिलता। दोनों में कहीं शैथिल्य भी नहीं है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की एक सबसे बड़ी विशेषता उसकी सुघड़ एवं सुव्यवस्थित-शैली ही है। ऐसी रचना-शैली हिन्दी-जैन-जगत् में अन्यत्र अनुपलब्ध है। इस शैली के कारण पं. टोडरमल का व्यक्तित्व हिन्दी-जैन-जगत् के शत-शत विद्वानों से भी ऊँचा हो गया है। उनकी प्रतिभा के असंख्यात-चमत्कार उनकी शैली में ही साकार हुए हैं। साधारण से साधारण-बात की सिद्धि के लिए उन्होंने हृदयग्राही-तर्क एवं उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। पद-पद पर मस्तिष्क उनकी बुद्धि की पैनाई तथा अनुभूति की गहराई का लोहा मानता है।

समग्र 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में धार्मिक-अन्धविश्वास के लिए कहीं भी अवकाश नहीं है। वह मुक्ति का बुद्धि-सम्मत-स्वरूप प्रस्तुत करता है। एक धर्म-निरपेक्ष बौद्धिक-व्यक्ति और विशेषरूप से आज के भौतिकवाद तथा विज्ञान-प्रभावित व्यक्तियों के लिए 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' धर्म का जो त्रिकालाबाधित स्वरूप प्रस्तुत करता है, उससे जगत् की कोई विद्वत्ता इंकार नहीं कर सकती। वास्तव में मोक्षमार्ग-प्रकाशक धर्म की एक साकार-परिभाषा एवं मुक्ति का मूर्तमान् पथ है। उसका तर्क-पाटव उसके लेखक के प्रति स्पर्धा उत्पन्न करता है। ऐसा लगता है कि उसका प्रणेता कोई बड़ा-भारी अभिभाषक अथवा बैरिस्टर होना चाहिए। विशुद्ध-अंत:करण से सहकृत होने के कारण इस तर्क-पाटव में लोकरंजन नहीं, वरन् लोक-मांगल्य की पुनीत-प्रेरणायें विद्यमान हैं।

पण्डित टोडरमल का अध्ययन बड़ा विशाल था। जैनधर्म के चारों अनुयोगों के साथ उन्हें षट्-दर्शन का भी अच्छा-ज्ञान था। न्याय, व्याकरण, तर्क आदि के अतिरिक्त बड़े भारी गणितज्ञ थे। 'गोम्मटसार'

जैसे कठिन-ग्रन्थ की टीका में उसके 'अंक-संदृष्टि-प्रकरण' में उनकी प्रखर-गणितज्ञता के दर्शन होते हैं। अंक संदृष्टि स्थल में वे बड़े भारी गणितज्ञ से लगते हैं। 'गोम्मटसार' का अंक-संदृष्टि-प्रसंग जैनाचार्यों के विशद-विज्ञान की घोषणा करता है। आज के गणित के सूत्रों की अपेक्षा जैनाचार्यों के वे सूत्र गणित के कठिन से कठिन-प्रश्नों के हल के लिए सरल तथा अल्पसमय-सापेक्ष हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की तरह 'गोम्मटसार' की टीका भी पण्डित टोडरमल के छोटे से जीवन का एक बड़ा-भारी कार्य है। उनके उपरान्त यह महान्-कार्य अधूरा ही रहता। उनके अनन्त-उपकारों से उपकृत आज का यह युग पण्डित टोडरमल जैसे महापुरुष को पाकर धन्य हो गया है। आधुनिक-युग के समस्त ज्ञान-दीप उसी के आलोक से आलोकित हैं।

इन विशेषताओं के साथ 'स्वर्ण में सौरभ के योग' की तरह उनकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह है विद्वत्ता के साथ उनकी अन्तर्दृष्टि तथा उनका सरल, सात्त्विक, विशुद्ध-जीवन। अन्तर्दृष्टि से अनुशासित, विशुद्ध, पारिमर्जित-जीवन में साहित्य का जो सर्जन होता है, उसी में लोक-मांगल्य तथा लोक-कल्याण का अनुसन्धान होता है। पण्डित बनारसीदास जैसे महाविद्वान् को अपने प्रारम्भिक-जीवन में यह अन्तर्दृष्टि उपलब्ध नहीं थी। अतः इसके अभाव में उन्होंने जिस साहित्य की सृष्टि की, उसे कालान्तर में प्रबुद्ध अवस्था में उन्हें स्वयं अपने ही हाथों यमुना की तरंग में तर्पण करना पड़ा। अतः पण्डित टोडरमल के पवित्र-मानस से समुद्भूत 'मोक्षमार्गप्रकाशक' विश्व का उत्कृष्ट-लोककल्याणकारी-साहित्य तथा अज्ञान-तिमिर में खोए हुए संसारी के लिए प्रशस्त का प्रकाश-स्तम्भ (सर्चलाइट) है। उसका प्रत्येक वाक्य मुक्ति-पथ का माइल-स्टोन है, जिसका अनुशीलन निश्चय ही

मुक्ति-धाम पहुँचा देता है। शारदा का यह पुत्र साम्प्रदायिक-चक्रव्यूह में गृहस्थाश्रम के प्रारम्भिक-वर्षों में ही अपने भौतिक-प्राण विसर्जित कर चला गया और उसके अभाव में वैधव्यग्रस्त यह जगत् 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' जैसी अनमोल-निधि के अखण्ड-स्वरूप का दर्शन नहीं कर सका। अपनी परिपूर्णता में इस ग्रन्थ का क्या स्वरूप होता, यह केवल कल्पना और पश्चात्ताप का ही विषय रह गया है। फिर भी 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जिस अपूर्ण-स्वरूप में हमें उपलब्ध है, वह हमारे मुक्ति-पथ-प्रदर्शन में पूर्ण और पर्याप्त है।

जीवन के विकास के लिए मुक्ति की प्राथमिक-भूमिका में अत्यन्त-प्रयोजनभूत 'निश्चय' एवं 'व्यवहार' और 'आगम तथा अध्यात्म' के अनवधि-विवाद का 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जो हृदयग्राही-समाधान उपस्थित करता है, वह स्तुत्य है। 'निश्चय और व्यवहार', 'निमित्त तथा उपादान' का विवाद कोई इसी युग अर्थात् युग-विशेष की वस्तु हो अथवा वह कोई द्वेष अथवा आश्चर्य का विषय हो—यह एक भ्रम है। आत्मा का अज्ञान अनादि है, अतः यह पक्ष भी अनादि है। आत्मा जब अज्ञान-दशा से करवट लेकर ज्ञान-संप्राप्ति के लिए कटिबद्ध होता है, तब उसके भीतर अज्ञान तथा ज्ञान का अन्तर्द्वन्द्व जन्म लेता है और इसी को 'निश्चय और व्यवहार' तथा 'निमित्त-उपादान' का विवाद कहते हैं। 'निश्चय और व्यवहार' अथवा 'निमित्त और उपादान' का विवाद वस्तुतः कोई दो व्यक्तियों अथवा दो दलों का विवाद नहीं है, वरन् आत्मा की अन्तःभूमिका में वह तो सत्य और असत्य का संघर्ष है, जिसमें विजय अन्त में सत्य की होती है। कोई अज्ञानी-ज्ञानी का विरोध करता है, यह कोई नवीन घटना नहीं है। हमारे अन्तस्तल में अज्ञान अनादि से ज्ञान का विरोध करता रहा है—यही हमारे जीवन

की एकमात्र-समस्या हो और इसी का समाधान हमारी जीवनचर्या हो। पण्डित टोडरमलजी के समय में भी यह विवाद चरम-सीमा पर था और अन्त में यही उनके भौतिक-अन्त का भी निमित्त बना, किन्तु इसमें उनकी क्या हानि हुई ? भीतर तो ज्ञान अज्ञान पर विजय पा चुका था, अतः भौतिक-पराजय में भी विजयश्री उनके चरण चूम रही थी। उदय की प्रतिकूलता में भले ही उनका यश अधिक प्रसार न पा सका हो; किन्तु निश्चित ही पण्डित टोडरमल का व्यक्तित्व 'सागर से भी गहरा' तथा 'मेरु से भी महान्' है और 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के रूप में लोक-कल्याण का जो अमर साधन उन्होंने युग को दिया है, उस ऋण से युग कभी उऋण नहीं हो सकेगा।

सर्वतोमुखी-प्रतिभा, निष्पक्ष-आलोचन, स्पष्ट-वादिता, अद्भुत-साहस, विशद ज्ञान-कोष, अपराजित-अंतर्बल और आगम-तुला-सम्मत निर्भय-निःशंक-वाणी—ये सब पण्डित टोडरमल के असाधारण-व्यक्तित्व में एक ही साथ समन्वित हैं। विचित्र-बुद्धि एवं मान्यतावाले लोग, यथा—धार्मिक अन्धविश्वास से जिनकी विचार-शक्ति स्तब्ध हो गई है, जो पंथ के मोह से आक्रांत हैं, जो कर्मकाण्ड के मिथ्याभिनिवेश में धर्म का भार ढोते हैं, वैराग्य के वियोग में जिनका ज्ञान शुष्क हो गया है या जो एकदम धर्मनिरपेक्ष एवं नास्तिक हैं—इन सभी के लिए 'मोक्षमार्गप्रकाशक' एक सजीव-समाधान है। सभी को वहाँ अपने-अपने योग्य प्रचुर-सामग्री मिलेगी।

संस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थों की दुरूहता और हमारी मतिमंदता के कारण वीतरागी-सन्त और उनकी पावन-वाणी के प्रति जो हमारी आस्था उठ चली थी, 'मोक्षमार्गप्रकाशक' ने उस आस्था का पुनः संस्कार किया है। आज के नास्तिक-बुद्धिवादी युवक को अपनी

बुभुक्षित-बुद्धि के लिए 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में प्रचुर-खाद्य उपलब्ध होगा। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के तर्क और उनका समाधान देखकर वह उसके प्रणेता के चरणों की धूलि में अपना माथा धूसरित करके गर्व का अनुभव करेगा। यदि हिन्दी-भाषा में ऐसा सरल एवं सतर्क-ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं होता, तो नयचक्र से निष्पन्न आगम की गुत्थियों को हम सुलझा पाते यह कहना कठिन है। समस्त द्वादशांग के सार और हिन्दी-साहित्य की गौरव-निधि 'मोक्षमार्गप्रकाशक' ने न केवल हिन्दी-जैन-साहित्य की काया पुष्ट एवं अभिवृद्ध की है, वरन् उसका मस्तक भी ऊँचा उठाया है। अध्यात्मरस-प्लावित पं. टोडरमल के निश्छल-मानस का योग पाकर 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जैसी हिन्दी-पुस्तक आज मंगलमय मुक्ति-देवता के स्थान पर प्रतिष्ठित हो गई है। धर्म के निर्मल-नीर से प्रक्षालित धवल-धवल मानस से प्रेरित पण्डित टोडरमल की लेखनी से जो कुछ प्रसूत हुआ है, उसका प्रत्येक वर्ण मुक्ति का मंगलमय-सूत्र है। विश्व-साहित्य की गरिमा 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के गर्भ में कितने अनमोल-रत्न सिमटे पड़े हैं—यह गणनातीत हैं। निश्चित ही उसका प्रणेता लोक-मांगल्य का करुण- अधिष्ठाता एक महापुरुष है और उसका मस्तक 'आचार्य-कल्प' संज्ञा का गौरवमय-मुकुट धारण करने योग्य है।

❀❀❀

# ओ! पुरुष पुरातन

(पण्डित टोडरमलजी के प्रति)

सत्यनिष्ठ! ओ तरुण-तपस्वी,
परम-सौम्य सारल्य-निधान!!
जग की पशुताओं को तुमने,
दिया प्रेम का सुंदर-दान।।1।।

मोह और अज्ञान-निशा से,
जग में था अंधियारा छाया।
शांत-तपस्वी आत्म-विजेता,
जब तू जग-प्रांगण में आया।।2।।

निपट-मूढ़ता पाखण्डों के,
जग में काले, बादल छाए।
भोले-जग के भोलेपन पर,
तूने करुणा अश्रु बहाये।।3।।

भूली और भ्रान्त-जनता को,
तूने 'मोक्ष प्रकाश' दिखाया।
पाखंडी-दल ने तब तेरे,
ऊपर निज-षड्यंत्र चलाया।।4।।

सांप्रदायिक-युग का होता,
तेरे अवसानों में दर्शन।
बोल रहा जयपुर का कण-कण,
धन्य-धन्य ओ ! पुरुष-पुरातन।।5।।

अमर तुम्हारे मोक्षमार्ग से,
पाता अब तक विश्व-प्रकाश।
तेरे बलिदानों से अब तक,
जीवित प्यारा जैन-समाज।।6।।

# मोक्षमार्गप्रकाशक : एक अध्ययन

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी का 'मोक्षमार्गप्रकाशक' हिन्दी-जैन-साहित्याकाश का दैदीप्यमान-चन्द्र है। भाव, भाषा और शैली की अपनी निराली-विशेषताओं से समन्वित यह ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी साहित्य की एक अनुपम-निधि है। मोक्षमार्ग के प्रकाशन जैसे जगत् के सबसे भारी उत्तरदायित्व को लेकर इसका प्रणयन हुआ और इस उद्देश्य का इसमें जो सर्वांग-निर्वाह हुआ है, वह वास्तव में स्तुत्य है। अनवधि अज्ञान-तमावृत्त अंत:चक्षुओं के घन-आवरण को ध्वस्त कर ध्रुव-ज्ञानालोक का अनायास-उद्घाटन कर देनेवाला 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' निश्चय ही 'सत्-साहित्य' का शृंगार है, जो विश्व के एक सर्व महान्-प्रयोजन और जगत की एक कठिनतम-समस्या का सरलतम-समाधान प्रस्तुत करता है। जागतिक-दु:ख और उनके कारणों की बुद्धिगम्य सम्यक्-विवेचना देकर शाश्वत-सुख का मार्ग खोल देनेवाली यह अमर-साहित्यिक-कृति सभी दृष्टि से 'अतोल' और 'अमोल' है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का प्रणेता नि:संदेह लोक-मांगल्य का पवित्र-अधिष्ठाता है, जो अज्ञान का रूप धरकर सम्पूर्ण-विश्व में छाये हुए अमंगल का विघटन कर लोक में निराकुल-शांति की पुनीत प्रतिष्ठा चाहता है और लोक में इससे महान् किसी इतर-कार्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस अर्थ में पण्डित टोडरमल एक, महान्-लोकदृष्टा और एक महान्-लोक-सृष्टा भी है। भ्रांत-लोकजीवन

को शाश्वत-सत्य की पुनीत-दिशा देने का गुरुतर-भार अपने शीश पर लेकर 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जैसी लघु-कृति के माध्यम से इसे जिस कौशल से निभाया गया है, वह आश्चर्योत्पादक है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' का प्रणेता एक धार्मिक-विद्वान् ही हो—ऐसी बात नहीं है, वरन् वह एक सुलझा हुआ सुधारक भी है। व्यक्ति तथा समाज की पतन-प्रणालियों, रुढ़ियों एवं मूढ़ताओं का वह कट्टर-शत्रु है, जिसके संकेत मोक्षमार्गप्रकाशक में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। धार्मिक-अंधविश्वास उसे पसंद ही नहीं है। तत्त्व की तुला पर जो हल्का सिद्ध हो जाता है, वह उसे कभी मान्य नहीं है और वह किसी भी सत्य-गवेषी को मान्य नहीं हो सकता। सागर के तट से वह भीख नहीं माँगता, वरन् उसकी गहराइयों में जाकर मोती निकालता है। और पण्डित टोडरमलजी की यही विशेषतायें अंत में उनके बलिदान का कारण भी बनीं, जो इस बात का प्रतीक हैं कि तत्कालीन भारतीय-समाज सांप्रदायिकता का हलाहल पीकर उन्मत्त हो चुका था और निश्चय ही पण्डित टोडरमलजी जैसे महापुरुष का बलिदान समुज्ज्वल भारतीय-संस्कृति के मस्तक पर एक ऐसा कलंक है, जिसका विनाश सांप्रदायिकता के विनाश के साथ ही संभव है, अन्यथा नहीं।

## 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की भाषा

पण्डित टोडरमलजी प्राकृत और संस्कृत-भाषा के भी बहुत बड़े विद्वान् थे और वे संस्कृत में काव्य-रचना भी करते थे। इसके साथ न्याय, व्याकरण, काव्य, छंद, अलंकार आदि का भी उनको अच्छा ज्ञान था। फिर भी 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की रचना सरल-हिन्दी (ढूँढ़ारी) में करके उन्होंने लोक की एक बड़ी भारी-आवश्यकता का सम्मान किया

है। यद्यपि ढूँढ़ारी एक सीधी-सादी भाषा है, किन्तु पं. टोडरमलजी के सबल-मस्तिष्क का सहचार पाकर वह चमत्कृत हो उठी है। और उसमें सतर्क अध्यात्म के गंभीर भावों के भार को संभालने की अनूठी क्षमता उत्पन्न हो गई है। भाषा सुबोध, सुकोमल तथा सुमधुर है और संसार के प्रचंड-ताप से तप्त-प्राणी को मुक्ति के शीतल-सलिल का सिंचन-सी देती प्रतीत होती है। 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' की वाक्य-रचना भी ऐसी नपी-तुली है कि उसमें शब्दों की हानि-वृद्धि अथवा परिवर्तन संभव ही नहीं लगता। संस्कृत और प्राकृत के कठिन भाषा-विधानों में प्रतिबद्ध तथा आधुनिक-मानव के लिए अगम्य सा अध्यात्म लोकभाषा में उन्मुक्त होकर 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के बहाने सत्य के दर्शन-हेतु मानों मानव-मात्र का आह्वान कर रहा है।

**शैली**—'मोक्षमार्गप्रकाशक' की विषय-प्रतिपादन-शैली अनूठी है और लेखक का सम्पूर्ण-व्यक्तित्व इसमें उभर आया है। 'ढूँढ़ारी' जैसी सीधी-सादी भाषा, जिसमें किसी गंभीर-विषय के प्रतिपादन के लिए पूरा शब्दकोष भी उपलब्ध नहीं हो सकता और उसके साथ अध्यात्म जैसा सूक्ष्म और गंभीर-विषय, भाषा और विषय के इस विरोध का पं. टोडरमलजी की शैली में इसप्रकार समन्वय हुआ है कि समूचे ग्रन्थ में कहीं भी भाषा विषय से पीछे नहीं रही है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' की वाक्य-रचना तथा विषय-प्रतिपादन-शैली बड़ी ही संक्षिप्त है और पण्डित टोडरमलजी की यह एक बड़ी-भारी विशेषता है कि विषय-प्रतिपादन और वाक्य-रचना के संकोच में भी कोई विषय अस्पष्ट नहीं रहा है और कोई विषय छूटा भी नहीं है। व्यर्थ का विस्तार तो उसमें है ही नहीं। लेखक का विषय का यथोचित-विवेचन करता हुआ आगे बढ़ने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहाँ

किसी विषय का विस्तार भी हुआ है, वहाँ उत्तरोत्तर उसमें नवीनता भी आती गई है और वह विस्तार विषय के सांगोपांग-विवेचन की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होंने छुआ है, उसमें क्यों का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्‌भुत है कि एक अपरिचित-विषय भी सहज ही हृदयंगम हो जाता है और कोई समाधान ही शेष नहीं रहता।

अध्यात्म जैसे गूढ़-विषय का विवेचन होने पर भी समग्र 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' की शैली में एक औपन्यासिक-छटा है। पढ़ते-पढ़ते ही अघाता नहीं और आगे बढ़ने की उत्सुकता शांत होती ही नहीं है और 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के पाठक की उत्सुकता तो इस ग्रन्थ की अपूर्णता के कारण सदा के लिए अमर बन गई है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' की शैली की एक अन्य बड़ी-विशेषता उसका तर्क-पाटव तथा उसका तर्क-बाहुल्य है। उसकी तर्क-वाटिका की बहुरंगी-छटा दर्शनीय है। तर्क-स्थलों में पं. टोडरमलजी की प्रतिभा किसी बड़े भारी तर्कशास्त्री को चुनौती-सी देने लगती है। उनका मस्तिष्क तर्क ढूँढ़ने में जितना निपुण है, उसके हृदयग्राही-समाधान में भी वह उतना ही कुशल है। साथ ही तर्क का आगमन कहीं भी लोक-रंजन अथवा अपनी विद्वत्ता या प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित करके किसी पर अपना बौद्धिक-प्रभुत्व स्थापित करने के लिए बलपूर्वक नहीं हुआ है, किन्तु विषय के प्रतिपादन क्रम में सहज ही उसका उदय हुआ है और मोक्षमार्ग के गूढ़-विषय को सुगम बनाकर आत्मसात् कर देने की लोक-हितकारी-भावना उसमें सर्वत्र ही आविर्भूत रही है। उनके तर्कों में आग्रह नहीं है। सिद्धान्त के उत्तुंगमेरु के समक्ष उनके तर्क सजल-मेघ के समान बरस पड़ते हैं। पं. टोडरमलजी तर्कशास्त्र

के विशेषज्ञ-विद्वान नहीं किन्तु, उनके तर्क मानव-मन की सहज-संभावनाएँ हैं। अपने तर्क की सिद्धि सर्वत्र ही पण्डित टोडरमलजी उदाहरणों के द्वारा करते हैं। उनकी प्रतिभा में से उदाहरण इसप्रकार फूट निकलते हैं, जैसे किसी सुमन-कलिका के उद्घाटन पर 'पराग' एवं 'सौरभ' फूट निकलते हैं।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' में सर्वत्र ही विषय को हृदयंगम करने में उदाहरणों का योग बड़ा ही अनमोल रहा है। लोक-कल्याण-प्रेरित उनके तर्क और उदाहरणों की नैसर्गिकता पर मंत्रमुग्ध-सा मन इनके प्रति बरबस ही श्रद्धावनत होकर उनके प्रतिपादित-तत्त्व को आत्मसात् करने के लिए आतुर हो उठता है।

मोक्षमार्ग के प्रकाशन-तुल्य एक गुरुत्तर-उत्तरदायित्व लेकर चलने वाली किसी मौलिक-सैद्धान्तिक-कृति की एक यह भी विशेषता होनी चाहिए कि उसका प्रत्येक तथ्य युक्ति तथा आगम-सम्मत हो अन्यथा उसके प्रणयन से लोक के भ्रांत होने जैसे भारी-अनर्थों की संभवनाएँ रहती हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में पण्डित टोडरमलजी ने अपनी शैली में सर्वत्र ही इस नीति का अनुगमन किया है। और जहाँ अपने कथनों की सिद्धि में उन्होंने युक्ति का अवलंबन लिया है, वहाँ साथ ही आर्ष-आचार्यों के मूल-उद्धरणों को आगम-प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करके उस कथन की पुष्टि की है, जिससे संदेह की सम्पूर्ण-संभावना समूल-निरस्त हो गई है।

**भाव**—ग्रन्थ के नाम से ही जैसा स्पष्ट है मोक्षमार्गप्रकाशक आद्योपांत मोक्षमार्ग का ही विज्ञापन करता है। मुक्ति ही उसका विषय है, अतः इस ग्रन्थ में पं. टोडरमलजी की समस्त भावाभिव्यक्ति इसी विषय का अनुशीलन करती रही है। मुक्ति का प्रतिपक्षी-संसार तथा उसके

अंतरंग और बहिरंग-कारण तथा संसार का प्रतिपक्षी-मोक्ष एवं उसके अन्तरंग और बहिरंग-साधनों की इतनी सुन्दर सांगोपांग-विवेचना हुई है कि हृदय मुग्ध हो जाता है। पण्डित टोडरमलजी ने जिस विषय को उठाया है, उसकी खाक छान डाली है। संसार और मुक्ति से संबंधित कोई कसर उन्होंने उठा नहीं रखी है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के शंका-समाधान-स्थलों को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसका लेखक कोई बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक होना चाहिए। किसी विषय के संबंध में मन में जितनी शंकाओं का उत्थान सम्भव हो सकता है, एक-एक करके अपने सुन्दर-क्रम में उन सभी का अवतरण 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में हुआ है। और फिर उनका समाधान तो यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि क्या इस युग में किसी ऐसे मेधावी-पुरुष का अस्तित्व भी संभव हो सकता है? प्रज्ञा के कोष से इस पुरुष ने जिस विषय को छुआ है, उसका वे कोना-कोना झाँक आये हैं। इन स्थलों में किसी जटिल-मस्तिष्क का स्नायु-मण्डल भी शिथिल हो जाता है और वह अपनी संचित-शेमुषी को नम्रीभूत होकर लेखक के चरणों में विकीर्ण कर देता है।

समग्र ही 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में पं. टोडरमलजी को सत्य का आग्रह रहा है। सत्य की स्वीकृति में जहाँ वे सुमन से कोमल हैं, असत्य के परिहार में वहाँ वे शैल से कठोर हैं। उनके सम्पूर्ण-तत्त्वज्ञान का आधार वीतराग-विज्ञान है; क्योंकि मुक्ति-सौख्य का एकमात्र वही साधन हो सकता है। अतः वीतरागता का विरोध उन्हें कभी सह्य नहीं रहा है। उनके सभी कथन तर्क, आगम और अनुभव से प्रमाणित हैं; अतः वहाँ असत्य के परिग्रह अथवा मनोकल्पना के लिए कोई अवकाश नहीं है। सत्य ही मानों उनका जीवन-दर्शन है अतः उसके प्रतिपादन

में असत्य का परिहार स्वयमेव ही हो गया है। असत्य के समर्थक को सत्य कड़वा लगता ही है अतः सत्य से उसे स्वाभाविक ही द्वेष हो जाता है। किन्तु पण्डित टोडरमलजी का सत्याग्राही, स्वाभिमान असत्य के समक्ष कभी झुकता ही नहीं है। उनमें न लोकैषणा है और न लोकरंजन, क्योंकि इनमें सत्य कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता, जीवन में इनकी अपेक्षा सदा ही असत्य की ओर अग्रसर करती है।

पण्डित टोडरमलजी एक बड़े भारी अध्यात्म-दृष्टा हैं। अध्यात्म उनके जीवन में साकार हो चला था। अतः अध्यात्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म-भावों के विवेचन की उनमें महती-क्षमता परिलक्षित होती है। 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' में उनका अध्यात्म, उनकी स्पर्द्धास्पद, विद्धत्ता का सहचार पाकर चमत्कृत हो उठा है।

यद्यपि 'मोक्षमार्गप्रकाशक' एक आध्यात्मिक-ग्रन्थ है, किन्तु उसमें यत्र-तत्र तत्कालीन-समाज की अवस्था के भी अनेक-संकेत बिखरे पड़े हैं। देश में साम्प्रदायिकता निरंकुश हो चुकी थी। जिसका संकेत दूसरे अधिकार में क्रोध के वर्णन में इसप्रकार उपलब्ध होता है—''वहाँ क्रोध का उदय होते पदार्थनिविषैं अनिष्टपनौ वा ताका बुरा होना चाहै, कोऊ मन्दिरादि अचेतन-पदार्थ बुरा लागै, ताकूं फोरना, तोरना इत्यादि करि वाका बुरा चाहै।'' उससमय जैन-साहित्य तथा जैनाचार में उनके कारण विकृति तथा शैथिल्य का समावेश हो चुका था, जिसका वर्णन पण्डित टोडरमलजी ने इसप्रकार किया है—''इस निकृष्ट-काल-विषै उत्कृष्ट-जैनमत का घटना तो भया...ऐसे तीव्र-कषायी, जैनाभास इहाँ इस निकृष्ट-काल विषै होहैं।'' इस काल-विषैं कोई जैनमत-विषैं भी कषायी भये हैं, सों तिनने कारण पाय अन्यथा- कथन लिख्या है।'' देश, समाज तथा धर्म-विरोधी-प्रवृत्तियों का पण्डित टोडरमलजी

ने अपने जीवन में सदा ही विरोध किया है और इस कार्य में उन्होंने कभी अपने-पराये का भेद नहीं रखा है। इसप्रकार असत्य के समक्ष सदा ही सत्य का उद्घाटन करके वे लोक का मार्गदर्शन करते रहे हैं।

**विषय**– 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का विषय महा-मंगलमय है। यद्यपि वह अपूर्ण ही रह गया है; क्योंकि उसका प्रणेता अल्पवय में ही चिर-प्रयाण कर गया। अल्पवय और महामेधा की संगति साधारण-जनों को तो आश्चर्योत्पादक सी लगती है। यह जगत् का दुर्भाग्य है कि 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' अपने पूर्ण-स्वरूप में हमें उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थकर्त्ता ''इसका आगे वर्णन करेंगे'' के द्वारा इसके महाविस्तार की यत्र-तत्र सूचना देते ही रहे हैं। यदि वह पूर्ण हो सकता, तो मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उसमें अवतरित होते और तब उसका क्या स्वरूप होता यह कल्पना का विषय नहीं है। फिर भी यह ग्रन्थ अपने अपूर्णरूप में भी इतना परिपूर्ण है कि जड़ता से ग्रसित आज के जगत् के मार्गदर्शन के लिए उसके पास प्रचुर-सामग्री है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दी-जैन-साहित्य के कोष में इसकी समता की अन्य कोई कृति नहीं है।

महामना पण्डित टोडरमलजी के मस्तिष्क में तो 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के न मालूम कितने अधिकार प्रच्छन्न थे; किन्तु उसके नव-अधिकार भी पूरे नहीं हो सके हैं। नवम्-अधिकार भी अधूरा रह गया है। वास्तव में उसके आठ-अधिकार तो ग्रन्थ की 'उत्थानिका-मात्र है'। मोक्षमार्ग के प्रथम-चरण सम्यग्दर्शन का वर्णन तो नौंवे अधिकार से ही प्रारम्भ हुआ है, और वह भी अधिकांश अपूर्ण ही रह गया है। आगे सम्यग्दर्शन के सांगोपांग-वर्णन के लिए ही न मालूम कितने अधिकार अपेक्षित होते ?

'मोक्षमार्गप्रकाशक' के इस अपूर्ण गर्भ में भी न मालूम कितने रहस्य भरे पड़े हैं। उसके विषय के विकास क्रम में धर्म और उसकी जीवन के उत्कर्ष में अनिवार्यता, धर्म की उपलब्धि के साधन, देव-गुरु और सत्-साहित्य तथा परीक्षापूर्वक उनका स्वीकार, धर्मविरोधीतत्त्व, आस्तिकता-नास्तिकता, पारंपरिक-कुलाचार में धर्म की संभावना, पुण्य-पाप और उनके फल की सिद्धि, मुक्ति तथा उसका फल, स्थायी तथा स्वाधीन-सुख आदि अनेक महत्त्वपूर्ण-विषय प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप से सहज ही उसमें गर्भित हो गये हैं।

इस ग्रंथ के नव-अधिकारों का विषयानुरूप बड़ा ही स्वाभाविक-विकास हुआ है।'प्रथम-अधिकार' में उत्तम-फल अर्थात् उत्तम-सुख के लिए परम-इष्ट अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप विस्तार से कहा गया है। अनेक-स्थलों पर पण्डित टोडरमलजी के अभिधापरक-वाक्यों से भी बड़े महत्त्वपूर्ण-व्यंगार्थ फलित होते हैं। जैसे ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अरहंतों के स्वरूप-वर्णन की प्रथम- पंक्ति है ''तहाँ प्रथम अरहंतनि का स्वरूप विचारिये हैं'' तथा सिद्धों के स्वरूप वर्णन की प्रथम पंक्ति है ''अब सिद्धनि का स्वरूप ध्याइये हैं'' दोनों वाक्यों में 'अभिधा' का प्रयोग है, किन्तु अरहंतों के साथ 'विचारिये' और सिद्धों के साथ 'ध्याइये' शब्द बड़े-महत्त्व के हैं। वास्तव में ध्यान का ध्येय सिद्धों का स्वरूप ही है क्योंकि आत्म-विकास की चरम अभिव्यक्ति उन्हीं में होती है। अरहन्तों का स्वरूप अपूर्ण होने से ध्येय नहीं है। अत: 'विचारिये' तथा 'ध्याइये' शब्दों का बड़ा सार्थक-प्रयोग हुआ है। इन परमेष्ठियों के नमस्कार तथा इनकी उपासना का उद्देश्य निराकुल-शान्ति तथा उसके साधन वीतरागता की उपलब्धि मात्र है। अन्य किसी भी लौकिक-प्रयोजन प्रेरित इनकी

उपासना आत्महितकारिणी नहीं होती, उसका विस्तृत वर्णन पण्डित टोडरमलजी ने प्रथम-अधिकार में किया है।

यद्यपि 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में पण्डित टोडरमलजी को मोक्षमार्ग का विवेचन करना ही इष्ट रहता है, किन्तु मोक्षप्रतिपक्षी बंध-दशा और उसके कारणों के परिज्ञान के बिना मुक्ति संभव ही नहीं है; अतः सर्वप्रथम संसार-दशा के वर्णन से उन्होंने अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। इसीलिए इस ग्रन्थ के दूसरे, तीसरे तथा चौथे अधिकार संसार तथा उसका निमित्त कर्म तथा कर्मोदय से होनेवाले आत्मा के विविध-काषायिक-परिणाम, सांसारिक-प्राणियों के चतुर्गति-संबंधी दुःख और उनके मूल-कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचरित्र के मार्मिक-वर्णन से अलंकृत हैं।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' के पाँचवे अधिकार 'विविध-मत-समीक्षा' में जहाँ पण्डित टोडरमलजी के प्रकांड-पांडित्य तथा उनके विशाल ज्ञान-कोष का परिचय मिलता है, वहाँ उससे यह भी एकदम-स्पष्ट हो जाता है कि इस अधिकार का उदय ही उस सत्यान्वेषी-पुरुष की लोकरंजनकारी-वृत्ति के अभाव की सत्-प्रेरणा से हुआ है। उसमें न अपने की ममता है और न पर की गर्हा।

छठा-अधिकार सत्य-तत्त्व-विरोधी असत्यायतनों के स्वरूप-विस्तार से प्रतिबद्ध है। उसमें ये ही निर्देश किया गया है कि मुक्ति-विरोधी तत्त्वों से कभी सम्पर्क नहीं साधना चाहिए। अन्यथा वह पुरुष मुक्तिपथ को खो देता है।

समूचे 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में उसका 'सातवाँ' तथा 'नवाँ अधिकार' सर्वाधिक महत्त्व के हैं। मुक्त तथा मुक्ति-पथिक पुरुष तथा इनकी

तात्त्विक-वाणी का दुर्लभ-योग पाकर भी जैन 'संज्ञक' प्राणी किस-प्रकार अज्ञान की उपासना करता रहता है और तत्त्व के सम्मुख होकर भी किसप्रकार तत्त्व का विरोध करता रहता है ?—इसका मनोमुग्धकारी, सांगोपांग-विशद विवेचन सातवें-अधिकार की विषय-सामग्री है।

समग्र जैन-वाङ्मय विषय-भेद की दृष्टि से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के चार वर्गों में विभक्त है। अत: आठवें अधिकार में 'प्रत्येक अनुयोग का विषय उसकी वर्णन-शैली तथा प्रयोजन और शैली के कारण दिखाई देनेवाला उनका पारस्परिक-विरोध तथा स्याद्वाद-पद्धति में इस विरोध का अद्भुत-समन्वय और मुक्ति-पथ के पथिक के लिए जीवन में सत्साहित्य का महत्त्व' आदि विषय बड़ी-रोचकता से संग्रहीत किये गये हैं।

नवाँ-अधिकार इस ग्रन्थ का अन्तिम-स्वरूप है और वह भी अपूर्ण है। मुक्ति के बाधक-तत्त्वों का सविस्तार-दिग्दर्शन कर चुकने के उपरांत मोक्षमार्ग के अविभाज्य-अवयव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की विस्तृत-विवेचना पण्डित टोडरमलजी 'नवें अधिकार' से ही करना चाहते थे। किन्तु उसमें मात्र सम्यग्दर्शन का ही थोड़ा-सा वर्णन हो पाया है। सम्यग्दर्शन का अवशिष्ट तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तो बिलकुल अछूते ही रह गये हैं।

**'मोक्षमार्गप्रकाशक' का तत्त्वज्ञान**—'मोक्षमार्गप्रकाशक' में जैन-तत्त्वज्ञान से संबंधित प्राय: सभी विषय प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में समाविष्ट हो गये है। यद्यपि उसका मूल-विषय तो मोक्षमार्ग का प्रकाशन ही है, किन्तु प्रकारान्तर से उसमें जैन-कर्म-सिद्धान्त, निमित्त-उपादान, स्याद्वाद-अनेकांत, निश्चय-व्यवहार, पुण्य-पाप, दैव तथा पुरुषार्थ पर बड़ी तात्त्विक विवेचनायें उपलब्ध होती हैं।

**कर्म-सिद्धान्त**—कर्म-सिद्धान्त जैनदर्शन का एक मौलिक-अनुसंधान है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। आत्मा के राग-द्वेषरूप विकारी-भावों को निमित्त पाकर पौद्गलिक (जड़)-कार्माणवर्गणा में चुम्बक और लोह की भाँति जो स्वाभाविक-स्पंदन तथा उनका आत्म-प्रदेशों के साथ जो बंधन होता है, उसका परिचय विश्व को केवल जैनदर्शन ही देता है। आत्मा के साथ रहने की अवधि में भी जड़-कर्मों में आत्मा के परिणामों के निमित्त से विविध रासायनिक (अनुभाग संबंधी)-परिवर्तन होते हैं, उनका अत्यन्त-सूक्ष्म-विवेचन भी जैनागम में उपलब्ध होता है। जैनदर्शन का यह अनुसंधान विश्व को उसकी एक अनूठी-देन है। आत्मा के राग-द्वेष-भावों से कर्म-बंध और कर्म के उदय से आत्मा के राग-द्वेष-भाव—इसप्रकार की संगति होने पर भी आत्मा और कर्म दो भिन्न-तत्त्व होने के कारण केवल अपने-अपने परिणामों को ही निष्पन्न करते हैं, परस्पर एक दूसरे के परिणामों को नहीं। अतः दोनों में विद्यमान इस अकर्तृत्व का रहस्योद्घाटन भी जैनदर्शन करता है। और इसप्रकार वह आत्मा की इस भ्रांति को कि 'कर्म उसके संसार, विकार, अथवा सुख-दुःख को उत्पन्न करता है अथवा इनकी उत्पत्ति में योगदान करता है', निर्मूल करता है। पण्डित टोडरमलजी ने आत्मा और कर्म-संबंधी इस रहस्य का 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' में अनेक-स्थलों पर उद्घाटन किया है—

(दूसरा अधिकार) ''जीव-भाव को निमित्त करि पुद्गल-परमाणुनिविषैं-ज्ञानावरणादिरूप शक्ति होहै। इहाँ विचार करि अपने उद्यमतैं कार्य करे, तो ज्ञान चाहिए अर तैसा निमित्त बने, स्वयमेव तैसे परिणमन होये, तो तहाँ ज्ञान का किछू-प्रयोजन नाहीं।

''सो ऐसे होने-विषै कोऊ कर्म-वर्गणारूप पुद्गल-पिंडके ज्ञान तो

नाहीं है, जो मैं ऐसे परिणमों अर और भी कोई परिणमावनहारा है नाहीं, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक-भाव बनि रह्या है, ताकरि वैसे ही परिणमन पाइये है।''

''बहुरि जब कर्म-प्रकृतिनि का उदयकाल आवै, तब स्वयमेव तिनि प्रकृतिनि के अनुभाग के अनुसारि कार्य बनै। कर्म प्रकृतिनिका कार्यनिकौं निपजावता नाहीं। याका उदयकाल आय यह कार्य बनै है, इतना ही निमित्त-नैमित्तिक-संबंध जानना।''

**निमित्त-उपादान**—किसी एक पदार्थ में जब कोई कार्य निष्पन्न होता है, तो वहाँ एक दूसरा पदार्थ भी नियम से विद्यमान होता है, जो उस कार्य को उत्पन्न भी नहीं करता, उसमें योग भी नहीं देता; किन्तु उस कार्य की उत्पत्ति के साथ अपनी अनुकूलता रखता है। वस्तुस्थिति के इस नियम को उपादान-निमित्त संबंध कहते हैं। जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है, उसे 'उपादान', उस कार्य को 'उपादेय' अथवा 'नैमित्तिक', तथा संयोगी इतर-पदार्थ को 'निमित्त' कहते हैं। निमित्त-उपादान के संबंध में जगत की भ्रांति यह है कि व्यक्ति अपनी भूल से उत्पन्न अपने दोषों का कारण उस पदार्थ को घोषित कर बैठता है, जो उस समय कार्य के साथ मात्र विद्यमान रहता है और इसप्रकार स्वयं निर्दोष हो जाना चाहता है। किन्तु जैसे एक चोर अपने चौर्य-कर्म का आरोप चाँदनी को देकर दण्ड-मुक्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार अपने उपादान से उत्पन्न-दोष का भार निमित्त पर रखने की चेष्टा आत्मा में उत्तरोत्तर-विकार तथा दु:ख का संचय करती है; क्योंकि इस प्रवृत्ति में स्वदोष-दर्शन तथा आत्म-निरीक्षण के लिए अवकाश ही नहीं है।

जैनदर्शन उपादान-निमित्त-संबंधी इस भ्रांति का बड़ा सुन्दर-

समाधान प्रस्तुत करता है। जैनदर्शन का यह मत है कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ अनन्त-शक्ति का समुदाय है और वे शक्तियाँ पदार्थ में सदा ही निरपेक्ष-भाव से परिणमित होती रहती हैं। अपने परिणमन में उन्हें किसी इतर-पदार्थ से कुछ भी आदान प्रदान नहीं करना पड़ता। यदि आदान-प्रदान को सैद्धान्तिकरूप से स्वीकार कर लिया जाये, तो चेतन जड़ को अपनी चेतना तथा जड़ चेतन को अपनी जड़ता भी प्रदान कर सकेगा; किन्तु यह असंभवता कभी साकार होती ही नहीं है। अत: यह निर्विवाद है कि लोक में आदान-प्रदान की बात एकदम औपचारिक है, यथार्थ नहीं। वस्तु-स्वभावगत इस नियम के अनुसार निमित्त और उपादान दोनों की अपनी-अपनी स्वतंत्र-मर्यादायें हैं। यद्यपि दोनों की स्वतंत्र-स्थिति है, तो भी इस तथ्य का उल्लंघन कभी नहीं होता कि जब उपादान अपनी शक्ति से परिणमनशील होकर किसी कार्य को निष्पन्न करता है, तो वहाँ इतर-पदार्थ निमित्त के रूप में विद्यमान होता ही है। निमित्त-उपादान की स्वतंत्र-स्थिति तथा उनका अनिवार्य-सहचार—ये दोनों ऐसे तथ्य हैं, जो निमित्त-उपादान-संबंधी अगणित प्रश्नों के समाधान के लिए पर्याप्त हैं। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में यथावसर अनेक-स्थानों पर निमित्त-उपादान-संबंधी इसी तथ्य का बलपूर्वक समर्थन किया है, जैसे (दूसरा अधिकार) ''जो कर्म आप कर्त्ता होय उद्यम करि जीव के स्वभाव को घातै, बाह्य-सामग्री मिलावै, तब कर्म के चेतनपनौं भी चाहिए, अर बलवानपनों भी चाहिए, सो तो हैं नाहीं। सहज ही निमित्त-नैमित्तिक-संबंध है। जब उन कर्मनि का उदयकाल होय तिस काल-विषैं आप ही आत्मा स्वभावरूप न परिणमे, विभावरूप परिणमे।''

''कोऊ कहैगा निमित्तमात्र तो है ? ताका उत्तर-परद्रव्य जोरावरी तो

कोई बिगारता नाहीं, अपने भाव बिगरै, तब वह भी बाह्य-निमित्त है।—ऐसे परद्रव्य का दोष देखना मिथ्याभाव है।''

—(सातवाँ अधिकार)

''जातैं परद्रव्य को ग्रहण-त्याग आत्मा के होय, तौ आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता होय, सो कोई द्रव्य कोई द्रव्य के आधीन है नाहीं।''

—(सातवाँ अधिकार)

अपने निमित्त-उपादान के प्रकरण में महापंडित बनारसीदासजी ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए अपने काव्य के मात्र दो चरणों में निमित्त-उपादान संबंधी सम्पूर्ण-विवाद को समाधिस्थ कर दिया है। वे लिखते हैं—

**''उपादान निज-गुण जहाँ, तहाँ निमित्त-पर होय,**
**भेद-ज्ञान परवान-विधि, विरला बूझे कोय।।''**

**निश्चय-व्यवहार**—'मोक्षमार्गप्रकाशक' के सातवें अधिकार में पण्डित टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहाररूप अनेकान्त का विशद-विवेचन किया है। यह वर्णन पं. टोडरमलजी की प्रज्ञा की पैनाई का ज्वलंत-प्रमाण है। मोक्षमार्ग की बाधक सूक्ष्म से सूक्ष्म भूल भी उनकी तीक्ष्ण-दृष्टि से नहीं बच सकी है। निश्चय और व्यवहार की एकान्त-मान्यतायें मोक्षमार्ग में बाधक बनकर कैसे खड़ी रहती हैं—इसका ऐसा विस्तृत सांगोपांग तथा सरस-वर्णन हिन्दी-जैन-साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

'अनेकान्त' जैनदर्शन का प्राण है। 'अनेकान्त' अर्थात् अनेक धर्म, पदार्थ स्वयं अनेकान्त-स्वरूप अर्थात् अनन्त-धर्म या अनन्त-स्वभाव-स्वरूप होता है। प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-

अनेक, सत्-असत् आदि अनन्त-स्वभाव होते हैं। ये स्वभाव वस्तु की रक्षा करते हैं। यथा अस्ति-धर्म पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का नियमन करके पदार्थ को अपने स्वरूप से प्रतिष्ठित रखता है अर्थात् उसे पर रूप नहीं होने देता। इसीप्रकार नास्ति-धर्म उसमें अन्य-पदार्थ का प्रवेश निषिद्ध कर अन्य-पदार्थ अस्ति-स्वरूप भी है और नास्ति-स्वरूप भी है—ऐसा अनेकान्त है। इसीप्रकार प्रत्येक पदार्थ अविनष्ट रहकर प्रतिसमय अपनी नवीन-अवस्था का उत्पाद और पुरानी-अवस्था का विनाश किया करता है, अतः वह नित्यानित्यात्मक है और एक ही वस्तु अभेद और अखण्ड होने पर भी उसमें अनन्त-गुण अथवा शक्तियाँ तथा उन शक्तियों की अनन्त-अवस्थाएँ प्रतिसमय होती हैं, अतः वह एकानेकात्मक है। यह अनेकान्त का सैद्धान्तिक-पक्ष है। जीवन में इस सिद्धान्त की महती-उपयोगिता है। उसका संदेश है कि विश्व के अनन्त जड़-चेतन-पदार्थ अपने-अपने अस्ति-स्वभाव से प्रेरित होकर सदा ही अपने स्वरूप में रहते हैं और वे कदाचित् आकाश के एक ही क्षेत्र में अत्यन्त-निकट भी रहें, तो भी इसप्रकार नितांत भिन्न रहते हैं, जैसे हिमालय और विन्ध्याचल। और वे इसप्रकार कभी नहीं मिलते, जैसे नदी के दो किनारे। सबकी अपनी-अपनी सीमा है और अपना-अपना घर। सभी अपनी-अपनी सीमा में अपनी-अपनी शक्ति से अपने नियत कार्यों का सम्पादन करते ही रहते हैं। एक को दूसरे की अपेक्षा ही नहीं है, तो फिर परस्पर-सीमोल्लंघन का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः उनके पारस्परिक-सहयोग और प्रभाव की बात भी निर्मूल हो जाती है।

पदार्थ का कार्य पदार्थ में हो और उसका प्रभाव कहीं अन्यत्र हो, यह तथ्य सदोष है। अपराध अथवा सुकृत कोई करे और फल किसी

अन्य को मिले यह बात लोक को भी सम्मत नहीं है। अत: प्रत्येक पदार्थ अपने कार्य को अपनी शक्ति से अपने लिये अपने में से अपने में ही निष्पन्न करता है—ऐसी षट्कारकीय निर्बाध-व्यवस्था है। फलस्वरूप एक पदार्थ कभी अन्य का कर्त्ता, कर्म, कारण, सहयोगी तथा प्रभावक होता ही नहीं है। दो पदार्थों के एकत्व के बिना उसका पारस्परिक कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व अथवा अन्य भी कोई संबंध बनता ही नहीं है। यदि दो पदार्थों के एकत्व की बात सैद्धान्तिकरूप से स्वीकार कर ली जावे, तो वह अनन्त-द्रव्यात्मक लोक आज हमारे समक्ष एक महापिण्ड के रूप में विद्यमान होता। किन्तु यह एकत्व की बात नितांत-असत्य है; क्योंकि भिन्न-पदार्थों के भिन्न-परिणामों को भिन्न ही प्रतीति और अनुभूति होती है।

यह विश्व-व्यवस्था है। इसके भीतर प्रत्येक पदार्थ सदा ही सुरक्षित है और अपने अगणित क्रिया-कलापों का एकछत्र सम्राट् है। पदार्थ के इस पर निरपेक्ष-स्वरूप को प्रतिपादन करनेवाली पद्धति को 'निश्चय नय' कहते है। पदार्थ की अंतरंग-स्थिति पर निरपेक्ष तथा स्वयं स्वतंत्र होते हुए भी उसका एक बहिरंग-पक्ष भी है, और वह यह कि एक एकाकी होकर भी लोक के अन्य-पदार्थों के साथ रहता है। भिन्न-पदार्थों में परस्पर कभी संयोग और कभी वियोग भी होता है। कभी-कभी वह संयोग और वियोग भी इतना व्यवस्थित होता है कि वह एक नियम अथवा सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है और फिर उन दो पदार्थों के संयोग-वियोग अथवा वियोग-संयोग में होने वाले उनके परिणाम उस नियम से ही अनुशासित होते हैं। दो पदार्थों के संयोग-वियोग में उनमें एक साथ अथवा पूर्वोक्त-काल में नियम से होने वाले परिणामों में लोक में कर्त्ता-कर्म अथवा कारण-कार्य-भाव का व्यपदेश

भी होने लगता है। जैसे यह त्रिकालाबाधित-नियम है कि आत्मा में जब चैतन्य-विकार अर्थात् राग-द्वेषरूप परिणाम होते हैं, तो पौद्गलिक-कार्माणवर्गणा आत्मा की ओर आकर्षित होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की भाँति बंध को प्राप्त हो जाती है। इसीप्रकार आत्मा जब अपने स्वभाव के आश्रय से निर्विकार-परिणमन करता है, तो कार्माणवर्गणा का आत्मा के प्रदेशों से वियोग हो जाता है। अतः इस नियम के निरपवाद होने से ऐसा भी व्यपदेश आगम और लोक में किया जाता है कि आत्मा विकार से कर्म बांधता है और निर्विकार-भावना से कर्मों का क्षय करता है। यद्यपि आत्मा और कर्म दो भिन्न-पदार्थ होने के कारण परस्पर एक दूसरे के कर्त्ता, कर्म अथवा करण कभी भी नहीं होते; किन्तु एक सुनिश्चित-नियम के अंतर्गत उनका संयोग-वियोग होने के कारण उनमें प्रयोजन अथवा निमित्तवश पारस्परिक कर्त्ता, कर्म, करण आदि का व्यपदेश एकदम-अनुचित अथवा निराधार नहीं है। वस्तु के इस बाह्यपक्ष का विवेचन करनेवाली पद्धति को 'व्यवहारनय' कहते है। दोनों ही नयों की उस विवेचन-पद्धति का पण्डित टोडरमलजी ने अपने 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' के सप्तम अधिकार में बड़ा सुन्दर-स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते है—"जिनमार्ग-विषैं कहीं तो 'निश्चयनय' की मुख्यता लिये व्याख्यान है; ताको तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'—ऐसा जानना, बहुरि कहीं 'व्यवहारनय' की मुख्यता लिये व्याख्यान है, ताकौं 'ऐसे है नाहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है'—ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोऊ नयनि का ग्रहण है। बहुरि दौऊ नयनि के व्याख्यान को समान-सत्यार्थ जानि ऐसे भी है—ऐसे भी है, ऐसा भ्रमरूप-प्रवर्तन करै, तो दोऊ नयनि का ग्रहण करना कह्या है नाहीं।"

निश्चय और व्यवहारनय के संबंध में पण्डितप्रवर टोडरमलजी की इस व्याख्या के प्रकाश में यदि हम देखें, तो लोक के अनन्त-पदार्थों में घटनेवाले अनन्तप्रकार के संबंधों से हमारे भीतर उत्पन्न अनन्त-भ्रम तुरन्त निरस्त हो जाता है। लोक की कैसी भी परिस्थिति और कैसा ही घटनाचक्र क्यों न हो और उनके कर्त्ता, कर्म, कारणों के संबंध में कैसी भी भ्राँति क्यों न हो, निश्चय और व्यवहार की तुला पर रखते ही अविलम्ब उनका संतुलन हो जाता है। सर्वज्ञोपदिष्ट-आगम में विवक्षा और प्रयोजन भेद के कारण दिखाई देनेवाले पारस्परिक-विरोध में इसप्रकार सामंजस्य स्थापित हो जाता है कि फिर जीवन में उसका कभी उदय नहीं होता। जीवन में अनेकान्त की यही सर्वोपरि-उपयोगिता है कि उसका स्वीकार बुद्धि को निर्मल बनाता है, मस्तिष्क का सम्पूर्ण-विकार धुल जाता है। मिथ्या-कारण-कार्य के स्वीकार में अपनी भूल से अपने भीतर उत्पन्न-दोषों का निरन्तर कर्मादिक पर आरोप करते रहने और फिर भी दोष का वारण न होने से जो क्षोभ, आकुलता, अशांति जीवन में चलती रहती है, अनेकान्त उसका एकमात्र समाधान है। अनेकान्त के आलोक में निश्चयनय के द्वारा अपनी भूल अपने को विदित हो जाने पर फिर भूल और उससे सम्बद्ध-दोषों की संतति का अस्तित्व ही संभव नहीं होता।

लोक में आत्मा के संबंध में शरीर को जीव, शरीर के संबंध से आत्मा को मूर्तिक, इन्द्रियों की पौद्गलिक-रचना को 'प्राण' कहने की अनादि-रूढ़ि है। इसीप्रकार आत्मा शरीर की व्यवस्था करता है, शरीर आत्मा का संचालन करता है, कर्म आत्मा को भयंकर-कष्ट देते हैं, इत्यादि लोक तथा आगम के पारस्परिक कर्त्ता, कर्म-भाव-प्रेरित सभी कथन व्यवहारनयात्मक औपचारिक-पद्धतियाँ ही हैं।

इस रहस्य को हृदयगंम कर लेने पर लोक के अनन्त-पदार्थों से आत्मा के हानि-लाभ की समस्त संभावनायें समाप्त हो जाती हैं। आत्मा कर्म के भयंकर-भय की गठरी अपने शीश से उतारकर फेंक देता है और कर्तृत्व की कारा में घुटनेवाली चैतन्य की श्वासों को स्वाधीनता का उन्मुक्त-पवन नवजीवन देता है—यही सत्य-मोक्षमार्ग है और शेष सब बन्धमार्ग है। जितने कुछ परमुखापेक्षी-परिणाम हैं, वे सब बन्धभाव अथवा बन्धमार्ग में ही गर्भित होते हैं। ये बन्धभाव जब प्रशस्त-राग (पुण्य) का रूप धारणकर वीतराग-मोक्षमार्ग के साथ उदित होकर उसका समर्थन करते हैं अथवा आत्मा को उसके प्रति प्रेरणा प्रदान करते हैं, तो इन्हें भी व्यवहारनय की उपचरित-शैली में मोक्षमार्ग की संज्ञा दी जाती है, किन्तु निश्चयनय उन्हें सदा 'बन्धभाव' की कोटि में ही रखता है। उसकी दृष्टि में सदा ही केवल एक वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग की कक्षा में प्रतिष्ठित रहता है।

निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के संबंध में देव, गुरु और आगम का सान्निध्य पाकर भी आर्हत्-मतानुसारी पुरुषों में भी जो अगणित-भ्रान्तियाँ पड़ी रहती हैं, उनका मार्मिक-विश्लेषण पण्डित टोडरमलजी ने सप्तम अधिकार में किया है। जो लोग निश्चय-व्यवहारनय दोप्रकार का मोक्षमार्ग मानते हैं, उनका परिहार पण्डित टोडरमलजी इन शब्दों में करते हैं—''मोक्षमार्ग दोय नाहीं, मोक्षमार्ग का निरूपण दोय प्रकार है। जहाँ सांचा मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है, अर जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नाहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है या सहचारी है, ताको उपचार करि मोक्षमार्ग कहिये सो व्यवहार- मोक्षमार्ग है। जातैं निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। साँचा-निरूपण सो निश्चय; उपचार-निरूपण, सो व्यवहार इसलिए निरूपण अपेक्षा दोय

मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय-मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार-मोक्षमार्ग है। ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय-व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय मानै सो भी भ्रम है।''

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार के संबंध में अज्ञान से अनुशासित होकर आत्मा जितनी प्रकार से भूल करता है, एक-एक करके उन सभी का चित्रण करते हुए पण्डित टोडरमलजी ने जो तर्क, आगम और अनुभव-सम्मत समाधान दिया है, वह एक असाधारण-वस्तु है।

**पुण्य-पाप**—पुण्य और पाप दोनों आत्मा को विकारी अंतर्वृत्तियाँ हैं और जैनदर्शन ने इनकी भी अपने साहित्य में विस्तृत-मीमांसा की है।

देवपूजा, गुरूपासना, दान, अनुकंपा आदि प्रशस्त-परिणाम पुण्य हैं और इनका फल स्वर्गादि होते हैं तथा हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि अप्रशस्त-आत्मपरिणाम पाप हैं और उनका फल नरकादि होते हैं।

अधिकांश भारतीय-दर्शन पाप को आत्मा के लिए अहितकर और पुण्य को आत्मा के लिए हितकर प्रतिपादित करते हैं। किन्तु जैनदर्शन इन दोनों को 'निर्वाण का बाधक' स्वीकार करता है। जैसे पाप आत्मा का विषम-भाव है, उसीप्रकार पुण्य भी। पुण्य और पाप दोनों में ही आत्मा अपनी स्वरूप-स्थिति में न रहकर पराधीन रहता है। दोनों ही आत्मा की परमुखापेक्षी-वृत्तियाँ हैं। जैसे पाप किसी इन्द्रिय-विषय का आश्रय लेकर प्रवर्तित होता है, उसीप्रकार दान, अनुकंपा आदि पुण्य-परिणाम भी किसी प्राणी के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह कि इन दोनों भावों की प्रवृत्ति के लिए आत्मेतर किसी अन्य-पदार्थ का आश्रय अनिवार्य है और पराधीन-भाव आत्मा को पराधीन

करते हुए ही जन्म लेते हैं; अत: वे आत्मा के स्वाभाविक-समरसीभाव नहीं कहे जा सकते। फलत: वे निर्वाण के बाधक ही होते हैं।

पुण्य और पाप दोनों परिणामों में 'अर्थ-क्रियाकारित्व' भी नहीं होता। कोई प्राणी किसी का अहित करने की भावना तो करे, किन्तु उसकी भावना से किसी का अहित होना अनिवार्य नहीं है। इसीप्रकार कोई प्राणी किसी की रक्षा के परिणाम तो करे, किन्तु उसके परिणामों से किसी की रक्षा होना अनिवार्य नहीं है। 'अर्थ-क्रियाकारित्व' न होने के कारण सदा ही विवशता का अनुभव होने से इन भावों में आत्मा की विकलता अवश्यंभावी है। अत: जैन-मनीषी आत्मा के ज्ञान-आनंद-स्वरूप स्वभाव के समक्ष इन भावों की अत्यंत-निरर्थकता घोषित करते हुए आत्मा के हित में इनकी उपादेयता का भी निषेध करते हैं।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' के सातवें अधिकार में पण्डित टोडरमलजी ने इसका अत्यंत-स्पष्ट प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं ''बहुरि इस शुभोपयोग को बंधका ही कारण जानना। जातैं बंध और मोक्ष के प्रतिपक्षीपना है। तातैं एक ही भाव पुण्यबंध को भी कारण होय अर मोक्ष को भी कारण होय—ऐसा मानना भ्रम है।''

बहुरि निचली-दशा-विषैं केई जीवनि के शुभापयोग, अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइये। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कह्या है। वस्तु विचारतें शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है। जातैं बंध का कारण होय सोई, मोक्ष का घातक है—ऐसा श्रद्धान करना। बहुरि शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग-अशुभोपयोग को हेय जानि, तिनके त्याग का उपाय करना।''

''बहुरि कोई ऐसे माने कि शुभोपयोग है, सो शुद्धोपयोग को कारण

है, सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो हैं, तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसा कार्य-कारणपना होय, तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै।''

**'दैव' और 'पुरुषार्थ'**—जैनदर्शन 'दैव' और 'पुरुषार्थ' की भी एक बुद्धिगम्य, जीवनोपयोगी-व्याख्या प्रस्तुत करता है। पुरुषार्थ प्रायः पुरुष के उन प्रयत्नों को समझा जाता है, जिनका प्रयोग व्यक्ति लौकिक-उपलब्धियों के लिए करता है। इस संबंध में जैनदर्शन का मत यह है कि लौकिक-उपलब्धियाँ पुरुष-प्रयत्न सापेक्ष होती ही नहीं है। यदि वे पुरुष-प्रयत्न साध्य हो, तो जो जितना श्रम करे उसे उतना ही अधिक मिलना ही चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति बहुलता से इसके विपरीत देखी जाती है। अतः शरीर से होकर मन, वाणी, सौंदर्य, आरोग्य आदि तथा धन, भाग्य, स्त्री, पुत्रादि सभी वस्तुयें दैवकृत हैं। आत्मा तो इनकी उपलब्धि के लिए राग-द्वेष का विपरीत-पुरुषार्थ मात्र कर सकता है। इसके आगे इनके सम्पादन में आत्मा का कोई अधिकार नहीं है। 'दैव' पूर्व-नियोजित होता है और पुरुषार्थ इह-चेष्टित। लोक में 'दैव' भाग्य को कहते है। वर्तमान-जीवन में जो भी लौकिक-उपलब्धियाँ होती हैं, वे पूर्व-नियोजित 'दैव' के अनुकूल होती हैं। और भावी-भाग्य की रचना का आधार आत्मा का वर्तमान-कर्म अर्थात् वर्तमान-पुरुषार्थ होता है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि पाप में प्रवर्तित होता है, तो उसके निमित्त से पाप-कर्म का संचय होता है और यदि वह पुण्य में वर्तन करता है, तो उससे पुण्य-कर्म संचित होता है। यही पुण्य-पाप कर्म आत्मा का 'दैव' अर्थात् 'भाग्य' कहलाते हैं।

जड़-कर्मों के निमित्त से समस्त लौकिक सुख-दुःख की तो प्राप्ति संभव होती है, किन्तु आत्मा के स्वाधीन शाश्वत-आनन्द की प्राप्ति न

तो पाप-पुण्य के पुरुषार्थ से होती है और न उनके द्वारा संचित-कर्मों से। किन्तु उसकी उपलब्धि तो एकमात्र ज्ञानानन्द-निकेतन आत्म-स्वरूप के प्रति सचेष्टक सम्यक्-पुरुषार्थ से ही होती है। अतः पुण्य और पाप के भाव तथा उनके निमित्त से संचित मोहादि तथा वेदनीयादि कर्म तथा इन कर्मों के फल में प्राप्त बाह्य-सन्निधि यह सब दैव का ही परिकर है। इनमें प्रवाहित पुरुषार्थ निरन्तर आत्मा के नश्वर भाग्य की रचना करता है, जो कि सदा ही दुःखद होता है। आत्मा की शाश्व-मुक्ति-स्वरूप महाभाग्य की रचना तो पुण्य-पाप से विलक्षण आत्मा का सम्यक्-पुरुषार्थ ही करता है। पुण्य और पाप के फल में जिसे समानरूप से पराधीनता तथा आकुलता का अनुभव होता है, ऐसा निकट भव्य प्राणी ही अपने जागृत-अन्तर से यह निर्णय करता है कि ''निश्चय ही पुण्य-पाप का सम्पूर्ण-परिकर पराया है। और मैं ज्ञान-आनन्द-स्वरूप शुद्ध-चेतन-तत्त्व हूँ।'' तब इस निर्णय से ही दैव के प्रतिबन्धों को अस्वीकार करता हुआ आत्म-पुरुषार्थ जागृत होकर चिर-अवरुद्ध मुक्ति के द्वारा का उद्घाटन करता है। अतः यह कथन तथ्य-शून्य है कि दैव (कर्म) के चक्र में उलझे हुए प्राणी को मुक्ति का अवकाश ही नहीं है।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के नवें अधिकार में इस विषय का सतर्क-ऊहापोह किया है, जो लोग द्रव्य-कर्म-भावकर्म की परम्परा में सम्यक्-पुरुषार्थ का अभाव स्वीकार करते हैं, उसका उन्होंने इसप्रकार प्रतिषेध किया है—''तत्त्व-निर्णय करने विषैं उपयोग न लगावै, सो तो या ही का दोष है। बहुरि पुरुषार्थ करि तत्त्व-निर्णय-विषैं उपयोग लगावे, तब स्वयमेव ही मोह का अभाव भये सम्यक्त्वादि रूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बने है। सो मुख्यपनै तो

तत्त्व-निर्णय-विषैं उपयोग लगावने का पुरुषार्थ करना। बहुरि उपदेश भी दीजिये है, जो इस ही पुरुषार्थ करावने के अर्थ दीजिये। अर तत्त्व-निर्णय न करने विषैं कोई कर्म का दोष नाहीं, तेरा ही दोष है। अर तू आपतो महन्त रहा चाहै अर अपना दोष कर्मनि के लगावै, सो जिन-आज्ञा मानै, तो ऐसी अनीति संभवै नाही।''

अन्त में इतने विवेचन के उपरांत यह तो स्पष्ट हो जाता है कि 'मोक्षमार्गप्रकाशक' महामना पं. टोडरमलजी के अगणित गुण-रत्नों का अनमोल-निधान है। उस सागर की छाती में न मालूम कितने मुक्ता बिखरे पड़े हैं।

आज के बुद्धिवादी-मानव के लिए 'मोक्षमार्गप्रकाशक' निश्चित ही एक भव्य-प्रकाशस्तम्भ के समान दिशा-निर्दिष्ट कर रहा है। जीवन के विकास के लिए सत्यासत्य के समुच्चय में से सत्य की शोध करने के लिए वह हमारे अन्तर्चक्षुओं को दिव्य-आलोक देता है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' में प्रतिपादित-तत्त्व किसी व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष से सम्बद्ध नहीं है, वरन् वह तो निखिल ही विश्व के लिए है। उसका प्रणेता मोक्ष के अवरुद्ध-द्वार का निखिल ही जगत् के लिए उद्घाटन करने के महान् उदात्त-आशयवाला है। और इसी पुनीत-प्रेरणा के परिणामस्वरूप 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का उदय भी हुआ है। अतः 'मोक्षमार्गप्रकाशक' किसी व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष का उत्तराधिकार न होकर मानव-मात्र के मनमन्दिर में उपास्यदेव के रूप में प्रतिष्ठित होने योग्य है।

निश्चित ही 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की भाषा, उसका भाव-गांभीर्य उसकी अनूठी रचना-शैली और उसमें गर्भित अगाध-आगमज्ञान ने पण्डित टोडरमलजी की 'आचार्यकल्प' संज्ञा को चरितार्थ कर दिया है।

अपने प्राणों के मूल्य पर 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जैसी अनुपम-निधि को देकर नि:संदेह पं. टोडरमलजी ने समग्र-विश्व और विश्व-साहित्य को उपकृत किया है। मताग्रह का अंजन लगाकर भले ही विश्व उसका मूल्यांकन न कर पावे, किन्तु इससे इस रत्नाकर की गरिमा कम नहीं होती। वरन् उसे न पहिचान कर विश्व मुक्ति के सर्वोच्च-वरदान से वंचित ही रहा है।

काश! हम उनके जीवन में पं. टोडरमलजी को पहिचान पाते, तो 'मोक्षमार्गप्रकाशक' आज अपने सम्पूर्ण-स्वरूप में हमें उपलब्ध होता। फिर भी यदि हम उपलब्ध 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के प्रकाश में अपनी चिर-विस्मृत स्वरूप-निधि का अनुसंधान कर सके, तो यही हमारे जीवन की सर्व-महान् उपलब्धि होगी और यही पण्डित टोडरमलजी और उनके मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रति हमारा सबसे बड़ा सम्मान होगा।

अन्त में मैं अपनी शत-सहस्र श्रद्धांजलियाँ उन महापुरुष के चरण में समर्पित करता हूँ।

❁❁❁

# सर्वोदयी-युगनेता : श्री कानजी स्वामी

**पू**ज्य श्री कानजीस्वामी जैन-समाज की उन विभूतियों में से है, जिनमें पवित्रता तथा पुण्य के संगम की बहुलता रही है। शताब्दियों के उपरान्त मानों एक-निधि युग को मिली है, जिसे पाकर युग के सोते-भाग्य जाग उठे हैं। उनके जीवन के अन्तरंग तथा बहिरंग—दोनों पक्ष समानरूप से समृद्ध हैं। अन्तरंग जहाँ उनका अविरल-प्रविचारित चेतना-विलास है, वहाँ बहिरंग-पक्ष में भी उनका द्रव्य और भाव-पुण्य निराला है। भाव-पुण्य की सर्वोच्च-भूमिका तत्त्व-चिन्तन तथा तत्त्व-विचार है। यह तो मानो उनकी दिनचर्या का अविभाज्य-अंग है। निरन्तर अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग की पावन-मंदाकिनी बहती है। आगम के गंभीर-रहस्य अनेकान्तरूपी-मथानी से मथकर ऐसे निकलते हैं, मानो गोताखोर ने सागर की गहराईयों में से मोती निकाले हों। उनका तत्त्व मात्र आगम के पन्नों पर लिखा नहीं रहा, अनुभूति की गहराई में उतर गया है। जीवन में उस तत्त्व-संपादन के पीछे एक स्पर्धाजनक-कहानी है।

वे ऐसे वातावरण में जन्मे, जहाँ तत्त्वोपलाब्धि तो दूर, तत्त्व सुनने तक को नहीं मिला था। यह भी एक उदय की विचित्रता रही। वहाँ रहे भी, पर मन नहीं माना। इतरजन जहाँ उदयजन्य-संस्कारों को छाती से लगाकर तदाकार हो जातें हैं, वहाँ उन्होंने उन पर ज्ञान-घन का प्रहार किया और एकाकी तत्त्व की खोज में निकल पड़े। कोई सहयोगी नहीं,

मार्गदर्शक भी नहीं; किन्तु पुरुषार्थ उग्र था, अतः स्वयं-प्रबुद्ध हो तत्त्व को पा लिया। उन्होंने संपूर्ण-लोक से दृष्टि समेटकर तथा अन्तर्विकल्पों से विराम लेकर क्षणभर के लिए भीतर देखा, तो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के आवरण के भीतर शुद्ध-तत्त्व श्रीफल के श्वेत गोले-सा स्वच्छ, अपने अकृत्रिम-सौन्दर्य-समन्वित किसी मंदिर के उपास्य देवता-सा अत्यन्त-रमणीय, स्फटिक-सा निर्विकार, सागर-सा गंभीर और मेरु-सा निष्कंप अपने पूर्ण-वैभव के साथ विराजमान था। अपरिमित भौतिक-ऐश्वर्यों के स्वामी एक चक्रवर्ती की अपेक्षा उस तत्त्व को पाकर वे अधिक सुखी हुए। उदाहरण है उनका जीवन उन सबके लिए, तत्त्व जिनकी बपौती रही, सत्य-धर्म जिन्हें उत्तराधिकार में मिला, किन्तु पानी में भी मीन प्यासा ही रह गया।

बहिरंग-पक्ष में उनका द्रव्य-पुण्य भी अद्वितीय है। सत्य के आँगन में एकाकी उनका पदार्पण हुआ, किन्तु आज उनके साथ लाखों हैं। ऐसे विशिष्ट-पुरुषों का योग किंचित् और कदाचित् ही मिलता है। उनके कारण 'स्वर्णपुरी' आज स्वावलम्बन का प्रतीक बन गई है। जीवन के किसी क्षेत्र में सोनगढ़ आज परमुखापेक्षी नहीं है और न कभी रहा है। विद्वान्, वकील, अभियन्ता, धन-कुबेर सभी उस महापुरुष के आश्रम में आकर धन्य हुए हैं। बाह्य-जीवन के विकास के दो मूल-तत्त्व, प्रतिभा और अर्थ, दोनों का अनुपम-योग सोनगढ़ को मिला है। अत्यंत-निस्पृह तथा निरीह—ये दोनों अपनी सम्पूर्ण-शक्ति से तत्त्व के सम्पादन तथा प्रसार में योगदान कर रहे हैं। अतुल आध्यात्मिक-साहित्य वहाँ से प्रकाशित हुआ है और जो कुछ प्रकाशित हुआ है, वह अनेकान्त की कसौटी पर पहले कसा गया है।

उनका कान्तिमान तेजस्वी-वदन इस भौतिक-युग के विषय-

विमुग्ध जीवों को ब्रह्मचर्य का पुनीत-आमंत्रण दे रहा है। दिनचर्या इतनी व्यवस्थित कि समय दर्शक भी उससे हार खाता है। उन्होंने भरपूर-यौवन में भरा-पूरा घर छोड़ा, उस तत्त्व को पाने के लिए, जिसके अभाव में लोक सब कुछ पाकर भी दरिद्र बना रहता है। उसके पीछे उन्होंने उपसर्ग झेले, आपत्तियाँ सही, देह को भी नहीं गिना; क्योंकि अनमोल था वह तत्त्व; उसके बिना मानों जीवन नि:सार था। अपने सम्पूर्ण-श्रम से उसे पाकर ही रहे। उनमें तत्त्व प्रतिपादन की अद्‌भुत-क्षमता है। उनकी वाणी मुक्ति के मूलतत्त्व वस्तु-स्वातन्त्रय की निर्भय-निशंक घोषणा करती है। लोग उनके द्वारा प्रतिपादित-तत्त्व का विरोध करते हैं, किन्तु विरोध का 'अहम्' लेकर अनेक भाई उनके निकट आते ही झुक जाते हैं।

इस धरा पर उस महापुरुष का अवतरण एक अद्‌भुत-क्रान्ति लाया है। वे युगपुरुष हैं। हम उन्हें युगपुरुष क्यों न कहें ? वर्तमान-युग को उनसे एक-नई चेतना मिली है। मुक्ति का पथ प्रशस्त हुआ है। अनादि का सुप्त-पुरुषार्थ उनकी कल्याणी-वाणी का कोमल-स्पर्श पाकर आज सचेत हुआ है। हम आज अपने को पहिचानने के योग्य हुए हैं। लोग तत्त्व का केवल नाम ही जानते थे और जानते थे उसका बाह्य-लक्षण। तथा इतने मात्र से अपने का 'तत्त्वज्ञ' कहते थे। तत्त्व का कहीं पता नहीं था। पुण्य ने धर्म का चोला पहन रखा था और वह धर्म के सिंहासन पर बैठकर संवर-निर्जरा की सृष्टि करने का साहस कर रहा था। चारित्र बाह्यचार तथा बाह्य-वेश की संकुचित-सीमा में प्रतिबद्ध हो गया था। निमित्त-उपादान पर छाया हुआ था कण-कण में पराधीनता की ध्वनि थी और तत्त्व श्वासें गिन रहा था। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का एक रागात्मक-विकल्प ही 'सम्यग्दर्शन' के पद पर प्रतिष्ठित कर

दिया गया था। कौन जानता था कि सात-तत्त्वों में शुद्ध-निरपेक्ष, निर्भेद और निर्विशेष-तत्त्व को जीव-तत्त्व कहते हैं और उसी की निर्विकल्प-अनुभूति में मंगलमय-सम्यग्दर्शन का अवतरण होता है। अनेकान्त तो मानों परस्पर-विरुद्ध धार्मिक मान्यताओं का समन्वय करने के लिए एक बौद्धिक-प्राणायाम मात्र रह गया था। वह मात्र वाणी का क्रीड़ास्थल था। जीवन के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी। सत्य के प्रतिपक्षियों को रिझाने का एक-साधन बनाकर उसकी सम्पूर्ण-प्रतिष्ठा की ही हत्या कर दी गयी थी।

अनेकान्त-दर्शन वास्तव में वस्तु के सही-अवलोकन की एक सही-पद्धति है, सही ज्ञान है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में इसप्रकार प्रतिष्ठित है कि एक से दूसरे में कुछ आता-जाता ही नहीं है। अपना उसमें सब कुछ है और पर का कुछ भी नहीं है। यह स्वयं से अस्ति और पर से नास्ति ही उसकी अनेक-धर्मात्मकता अर्थात् अनेकान्त है। ऐसे अनैकान्तिक-वस्तुस्वभाव को जाननेवाला ज्ञान भी प्रमाण अर्थात् अनेकान्त है। वस्तु को अपने भूत, भविष्य, वर्तमान सम्पूर्ण-जीवन के क्रिया-कलापों का एकाधिकार प्राप्त है। किसी भी रूप में वस्तु परमुखापेक्षी नहीं है। वह सतत अपने क्रियाकलापों में तन्मय है। उसे दूसरे का कुछ करना भी नहीं है, क्योंकि दूसरे का कुछ भी करने की चेष्टा में दूसरे का कुछ होता ही नहीं है। वस्तु का ऐसा स्वरूप ही उसका सौन्दर्य है। अगर एक-दूसरे का कुछ करने-धरने की बात सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार कर ली जाये, तो कर्तृत्व की होड़ में विश्व-व्यवस्था ही समाप्त हो जाये। किन्तु विश्व-व्यवस्था तो अनादि से जीवित है और अनन्तकाल तक जीवित रहेगी, क्योंकि वह स्वयं अनैकान्तिक है। ऐकान्तिक-व्यवस्था में अनाचार बढ़ता है, असंतोष

और अशान्ति बढ़ती है। देह मेरी है, वाणी मेरी है, जगत् मेरा है, चेतना की यह दृष्टि सभी 'अनाचारों की मूल' है। ऐकान्तिक-दृष्टि जो अपनी नहीं है उसके लिए, सवेग आगे बढ़ती है, दूसरे की सीमा के अतिक्रमण का उपक्रम करती है, किन्तु कुछ हाथ नहीं आता; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने में इतनी परिपूर्ण, साथ ही सुरक्षित है कि उसमें से कुछ नहीं निकाला जा सकता। एक-वस्तु दूसरी-वस्तु में जा सके, तो ही कुछ आदान-प्रदान संभव है। किन्तु यह तो कभी होता ही नहीं है। वस्तु में न तो एकान्त ही है और न परकर्तृत्व है। जैसे एक प्रमत्त-हाथी भागता है; उसी-प्रकार अज्ञानी वस्तु के अविचल-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से टकरा-टकराकर निरन्तर आकुल-व्याकुल होता रहता है। ज्ञानी वस्तु के इस स्वरूप को पहिचानता है अत: वह स्व में ही स्व का निश्चय कर अपने में नास्ति-स्वरूप-पदार्थों से अपनी वृत्तियाँ समेटता जाता है। फलस्वरूप राग के बन्धन टूटते जाते हैं। यही मुक्ति है और यही स्वाधीनत्व अनेकान्त का मधुर-फल है।

दो विरुद्ध-मान्यताओं को एक करना अथवा उनको किसी दृष्टि से सही मानना अनेकान्त नहीं है। एक कहता है ''तत्त्व नित्य है'', तो दूसरा कहता है ''अनित्य है''। हमने दोनों को बिना विवक्षा के एक कर लिया, अनेकान्त बन गया। अनेकान्त ऐसी बालक्रीड़ा नहीं है। वस्तु स्वभाव से ही अस्ति-नास्ति नित्यानित्यादि अनन्त-धर्मात्मक है। उसे एकधर्मात्मक माननेवाली सभी मान्यतायें मिथ्या हैं। जैसे अनन्त-असत्यों को मिलाने से एक सत्य नहीं बनता, उसीप्रकार अनन्त असत्य-मान्यताओं के मिश्रण से अनेकान्त नहीं बन सकता। वर्तमान में अनेकान्त का सही-स्वरूप तथा उसका सही-उपयोग प्रयोग हमें अपने चारित्र-नायक पूज्य श्री कानजीस्वामी जैसे महापुरुष से मिला है।

चारित्र के क्षेत्र में लोग उनकी आलोचन भी करते हैं। वे चारित्र धारण क्यों नहीं करते ? किन्तु यह प्रश्न करते समय लोग यह भूल जाते हैं कि चारित्र कुछ बाह्य-निवृत्ति और कुछ बाह्य-प्रवृत्तियों का द्राविड़ी-प्राणायाम मात्र नहीं है। वह तो वीतराग निर्विकल्प-दशा है। ऐसी वीतरागता कभी बलात् नहीं आती। उसका विकास क्रमशः होता है। वह सिर पर बोझे की तरह लादी नहीं जाती। वह तो वीतराग-निर्विकल्प शुद्ध जीवतत्त्व के आलंबन तथा उसमें रमणता से उदित होती है। उसके विकास तथा पूर्णता का यही क्रम है। प्रथमानुयोग का सम्पूर्ण-साहित्य इसका साक्षी है।

पूज्यश्री कानजी स्वामी सम्यक्त्व की ऐसी अनुपम-भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। उनका बाह्याचार उससे बहुत आगे है। वे शुद्ध-भोजन करते हैं, वे तत्त्वविचार करते हैं। उन्हें स्थानादि तथा पत्र-व्यवहार के विकल्प ही नहीं उठते। उनमें ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं। किन्तु मात्र कषाय की मंदता तथा लेश्या की विशुद्धता को चारित्र नहीं कहते। चारित्र-धारण की उनमें उत्कट-अभिलाषा है। वे चारित्रधारी भावलिंगी-संतों के दर्शन के लिए तड़पते हैं, आत्म-साधक वनवासी-सन्तों का वर्णन करते समय वे आत्मविभोर हो जाते हैं। उस वर्णन में चारित्र के प्रति उनकी भक्ति, उल्लास तथा उत्साह दर्शनीय होता है।

शताब्दियों के बाद भी उनकी वाणी में कुन्दकुन्दादि महान्-संतों की पावन-वाणी का रसास्वाद आता है। सर्वार्थसिद्धि-सी स्वर्णपुरी का कण-कण आज चैतन्य-गीतों से मुखरित हो रहा है। संतों की वाणी के रहस्य का उद्घाटन आज सोनगढ़ के एकान्त में कर रहे है। वायु की तंरगों द्वारा आकाशवाणी की भाँति आज उसका प्रसार हो रहा है। आज सोनगढ़ विश्व में अध्यात्म-विद्या का एकमात्र केन्द्र है। उसे यदि हम

'अध्यात्म-विश्वविद्यालय' कहें, तो अनुचित न होगा। जड़ता के दास्य की अनादिकालीन-शृंखलाओं को क्रीड़ामात्र में छिन्न-भिन्न करने का एकमात्र-साधन आज हमें महापुरुष के रूप में अनायास ही मिला है। सातिशय-पुण्यशील, किन्तु पुण्य के अतिशयों से अप्रभावित इन 'सर्वोदयी युग-नेता' से आज सारा ही विश्व उपकृत हो रहा है।

मैं अपनी शत-सहस्र श्रद्धांजलियाँ उनके चरणों में चढ़ाता हूँ।

❁❁❁

# पूज्य गुरुदेव को समर्पित

आज अरे! एकांत-स्थान में,
बैठा योगी अलख जगाता।
'सन्मति-कुन्द' चरण-चिन्हों पर,
जो प्रतिपल ही बढ़ता जाता।।
अरे! 'समय' से निधि को पाकर,
अमृत-सा जिसने पी डाला।
छद्म-वेश में छद्म-पक्ष पर,
अंतर-छद्म वमन कर डाला।
लक्ष शीश को पद-चुंबन भी,
पा न सके जिसका आकर्षण।
हुआ वीर के संदेशों का,
स्वर्णपुरी ने प्रत्यावर्तन।।

अरे वीर के जन्म-दिवस पर,
भूतल का अभिशाप मिट गया।
अरे! वीर के जन्म-दिवस से,
एक नया-इतिहास जुड़ गया।।
अंधकार में युग सोता था,
घुटती थी जीवन की श्वासें।
पानी में भी पड़े हुए थे,
अरे मीन युग-युग के प्यासे।।
तेरा पावन पुनर्जन्म यह,
वसुधा का वरदान बना रे!!
पाखंडों के महल ढहाता,
लो रोको तूफान चला रे।।7।।

# ऋषभावतार

( वन्दना )

मंगलमय नव-युग का प्रभात,
जा रहा भोग आ रहा कर्म।
अवरुद्ध मुक्ति के द्वार खुले,
जागा चेतन में आत्म धर्म।।1।।

ले मुक्ति-साध मानव जागा,
दिनकर-विधु हँसे गगन-तल में।
तुम क्रांति लिए उतरे योगी,
थी क्रांति अवनी में, अंबर में।।2।।

प्रतिबद्ध-पक्ष चेतन-विहंग,
ले सका मुक्ति की श्वांस नहीं।
जब भोग भूमि के स्वर्णमयी-
पिंजर की वह चिर-दास रही।।3।।

तुम अद्भुत-परिवर्तन लाये,
अब बाह्यान्तर का एक बोल।
श्रम-श्रम की पुण्य-तुला पर अब,
मानव-जीवन को रहा तोल।।4।।

रे! श्रम-वंचित थी भोग-भूमि,
बस मुक्ति-मुक्ति की प्यास रही।
अब खुले धरित्री के बंधन,
स्वाधीन मुक्ति-प्रश्वास वहीं।।5।।

बहिरंग और अंतर-जीवन,
प्रभु! तुझमें एकाकार हुए।

जिसके अभाव में भोग-भूमि,
के सुख विषमय संभार रहे।।6।।

असि, मसि, कृषि, शिल्प, वणिज विद्या
जीवन के भौतिक-उपादान।
आगार और अनगार उभय
पथ के प्रभु थे तुम मूर्तिमान।।7।।

अंतर दृग-बोध चरण पौरुष,
से खुला क्षपक-उपशम-विधान।
योगी! तुम वसुधा पर उतरे,
फट गये अज्ञता के वितान।।8।।

तुम स्वयं लोक आदर्श बने,
अंतर चाहें उन्मूलन कर।
रे योगी ! बढ़े निरंतर ही,
जब तक न अनाकुल था अंतर।।9।।

मृण्मय-काया का विलय और,
फिर समरसता-विलसी अनंत।
अचलित-चैतन्य नमन तुमको,
वंदन-शत लोकातीत-संत।।10।।

❁❁❁

# नाटक :
# भरत-बाहुबली

## प्रथम-दृश्य

स्थान—पोदनपुर का निकटवर्ती प्रदेश

(महाराज भरत का दरबार। षट्खण्डाधिपति-महाराज भरत राजसी-वस्त्रों में सुशोभित सिंहासन पर विराजमान हैं। सामने अमात्यगण बैठे हैं।)

**भरत**—अब इन विजयोत्सवों से मैं थक गया हूँ अमात्य! हृदय विश्राम चाहता है।

**बासन्तक**—विश्राम! जीवन में विश्राम ही कहाँ है सम्राट्! संघर्ष तो क्षत्रिय का सहोदर है। इसका जन्म ही उसके साथ होता है, फिर अभी तो स्वयं चक्ररत्न भी विश्राम नहीं चाहता। विजय का जो व्रत लेकर हम निकले हैं, उसे तो पूरा करके ही लौटना चाहिए। अभी महाराज बाहुबली भी तो नमस्कार करने नहीं पधारे, इसी से तो चक्ररत्न रुक गया है।

**भरत**—विजय का व्रत! अरे! वह हिंसा का ही तो दूसरा नाम है, पारस्परिक-कलह से बचने के लिए पिता सभी सहोदरों में राज्य का जो विभाग कर गये थे। आज मैं उससे संतुष्ट न होकर सहोदरों के मुँह का ग्रास भी झपटने के लिए तैयार हूँ। क्या सीमा है इस पाप की? हाँ, अब मैं समझ गया कि विश्व में क्रांति का सूत्रपात क्यों होता है?

**मागध**—षट्खण्डाधिपति-सम्राट् भरत के विरुद्ध क्रांति करने की सामर्थ्य आज किसमें है महाराज!

**भरत**—क्रांति की सामर्थ्य! मेरा हृदय स्वयं मेरे विरुद्ध क्रांति कर रहा है अमात्य! पिता के द्वारा कोमल-कली की तरह पाले गए प्यारे सहोदर आज मेरी ही राज्य-लिप्सा से संत्रस्त होकर वन चले गये हैं। मेरा यह व्रज-हृदय फटकर अपना अर्जित-पाप उनके चरणों में क्यों नहीं बिखेर देता?

**दक्षिणांक**—महाराज! क्षुब्ध न होइये। आत्म-विद्या में आप पारंगत हैं। अपने अनंत-गुणों के गहरे-सागर में डुबकियाँ लगाते-लगाते आप उस अवस्था में पहुँच गये हैं, जहाँ विश्व की विभूति धूल-सी भासित होने लगी है। किन्तु स्वामिन्! षट्खण्ड के बिखरे हुए शासन का सूत्र अपने हाथ में लेकर व्यवस्था स्थापित करना भी तो चक्री का ही कर्तव्य होता है। चक्ररत्न का बाहुबली की सीमा में आकर रुक जाना इसी बात का प्रमाण है।

**भरत**—किन्तु अमात्यवर! बाहुबली मुझे अर्ककीर्ति से भी अधिक प्रिय है। यदि मेरा संदेश पाकर वह भी अन्य-सहोदरों की भाँति दीक्षा के लिए निकल पड़े, तो क्या मैं छोटी माँ के समक्ष अपना कलंकित-मुँह दिखा सकूँगा?

**दक्षिणांक**—महाराज! आप चिंता न कीजिये। मैं स्वयं इस कार्य को सम्पन्न करने का संकल्प करता हूँ और मुझे विश्वास है कि मैं शीघ्र ही महाराज बाहुबली को यहाँ लाने में समर्थ हो सकूँगा, आप निश्चिन्त रहें।

**भरत**—दक्षिणांक! मेरा हृदय साक्षी नहीं देता। बाहुबली को मैं

बाल्यकाल से ही जानता हूँ। उसका हठ इस चक्र के हठ से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

**दक्षिणांक**—महाराज! आपके चरणों के प्रसाद से मैं अब तक विषमतम-राजनीतिक-कुचक्रों में पड़कर भी असफल नहीं हुआ हूँ। फिर यह कार्य तो इतना कठिन नहीं है। स्नेह-सिक्त-सहोदरों के हृदय का मिलन। भला बताइये, यह क्या बड़ा काम है?

**भरत**—किन्तु अमात्य! मुझे अपने इस संदेश में अपने अभिमान एवं भाई के अपमान की गंध आती है।

**दक्षिणांक**—महाराज! बड़े भाई के संदेश में छोटे भाई के अपमान की गंध! बहुत गहरे उतर गये हैं सम्राट्? ये दो सहोदरों के कोमल-हृदय हैं सम्राट्! जिनका मिलन इतना सरल है, जितना गीली-मिट्टी के टूटे हुए खिलौने को फिर से जोड़ देना। यह नदी के दो किनारे नहीं हैं, जिनका जीवन में कभी सम्मिलन नहीं होता।

**भरत**—दक्षिणांक! तुम अत्यन्त-प्रवीण हो, तुम्हारे वाक्-चातुर्य की मैं कहाँ तक प्रशंसा करूँ? मुझे तुम पर विश्वास है, जाओ।

(दक्षिणांक नमस्कार करके जाता है)

**भरत**—अमात्य-वृन्द! आज बहुत समय हो गया है, अब आप विश्राम करें।

(सब चले जाते हैं)

पटाक्षेप

---

## द्वितीय-दृश्य

स्थान—पोदनपुर का राजप्रसाद।

(महाराज बाहुबली अपने मंत्रणागृह में एकाकी बैठे किसी विचार में मग्न हैं। प्रासाद के तोरणद्वार पर द्वारपाल खड़ा है, सहसा एक अपरिचित का प्रवेश।)

**द्वारपाल**—कौन हो तुम ? कहाँ बढ़े जा रहे हो ?

**अपरिचित**—मैं महाराज बाहुबली का चरण-चंचरीक विश्वासपात्र-चर हूँ।

**द्वारपाल**—तुम महाराज के चरण-चंचरीक कबसे बने ? महाराज का अति-पुराना, अति-प्रिय और अति-विश्वासपात्र चर तो मैं हूँ, मैंने तो तुम्हें आज ही देखा है। एक अपरिचित को प्रवेश की आज्ञा नहीं मिल सकती। यह महाराज की गुप्त-मंत्रणा का समय है। तुम नहीं जा सकते।

**अपरिचित**—मुझे महाराज को एक अत्यन्त-महत्त्वपूर्ण-सूचना देनी है, वह सूचना महाराज को अविलम्ब मिलनी चाहिए, अन्यथा भारी-अनिष्ट की सम्भावना है।

**द्वारपाल**—इन बातों में कुछ नहीं रक्खा। तुम मुझे फुसलाकर भीतर नहीं जा सकते।

**अपरिचित**—भाई ! सच मानो, मैं महाराज का चर हूँ। मुझे इससमय महाराज से मिलना ही चाहिए, अन्यथा भारी-अनिष्ट होगा, जिसका फल तुम्हें और हमें भी भोगना पड़ेगा। यदि प्रमाण चाहते हो, तो यह लो (अँगूठी देता है)।

**द्वारपाल**—अच्छा जाओ।

(अपरिचित प्रासाद में प्रवेश कर महाराज-बाहुबली के सन्मुख पहुँचता है।)

**चर**—महाराज की जय हो। एक अत्यन्त-आवश्यक कार्यवश मुझे यहाँ आना पड़ा है।

**बाहुबली**—बैठो सुमेरु! कहो, क्या कहना चाहते हो?

**चर**—आपके ज्येष्ठ-भ्राता महाराज भरत सेना-सहित नगर के बाहर विश्राम कर रहे हैं, आज मैं वेश बदलकर घूमते-घूमते उधर जा निकला, तो महाराज भरत के दो सैनिक गुप्त-चर्चा कर रहे थे कि उनका एक अत्यन्त-विश्वस्त और वाग्विग्ध-अमात्य आपकी सेवा में आ रहा है। वह आपको भरत के पास ले जाने का इसलिए भरसक-प्रयास करेगा कि आप जाकर उन्हें नमस्कार करें; क्योंकि आपके नमस्कार के बिना चक्र-रत्न आगे नहीं बढ़ सकता।

**बाहुबली**—सुमेरु! मैं तुम्हारी कर्त्तव्य-निष्ठा पर बहुत प्रसन्न हूँ। यह समाचार देकर तुमने राज्य की बड़ी भारी-सेवा की है। तुम्हारी यह सेवा अवश्य पुरस्कृत होगी, जाओ। (प्रस्थान)

(दो चरों का प्रवेश)

**दोनों**—महाराज की जय हो।

**बाहुबली**—बोलो, राज्य के क्या समाचार हैं?

**प्रथम-चर**—महाराज! सम्पूर्ण-राज्य में शांति है। प्रजाजन ही क्या, पक्षी भी अपने कल-कण्ठों से मधुर-कलरव करते हुए गगन में स्वच्छंद-विचरण करते हैं।

**द्वितीय-चर**—हर ओर आपकी सुचारु शासन-व्यवस्था के ही गीत गाये जाते हैं। राज्य के प्रत्येक-विभाग से प्रजाजन संतुष्ट हैं। सभी पदाधिकारी प्रजा के सुख-दु:ख का पूर्ण-ध्यान रखते हैं।

**बाहुबली**—अन्न-वस्त्र की कोई कमी तो नहीं है?

**प्रथम-चर**—नहीं महाराज! अन्न और वस्त्र से प्रजाजन पूर्ण-सन्तुष्ट हैं।

**बाहुबली**—कहीं कोई हिंसक-विधान देखने में आया?

**द्वितीय-चर**—नहीं महाराज! सम्पूर्ण-प्रजा इतनी सात्त्विक तथा धर्मनिष्ठ है कि सर्वत्र तात्त्विक-चर्चा ही सुनने में आती है।

**बाहुबली**—उत्कोच की कोई शिकायत?

**प्रथम-चर**—उत्कोच! यह तो शासन-व्यवस्था का पहला-दोष है। महाराज! **जिस राज्य में उत्कोच स्वीकार करनेवाले राक्षस होते हैं, उसका पतन अवश्यम्भावी है।**

**बाहुबली**—तुमने कोई अन्य-वार्ता भी सुनी है?

**द्वितीय-चर**—नहीं महाराज! सर्वत्र सुख और शान्ति के संवाद ही सुनाई पड़ते हैं।

**बाहुबली**—अच्छा, तुम दोनों जा सकते हो। (प्रस्थान)

(द्वारपाल का प्रवेश)

**द्वारपाल**—महाराज की जय हो, महाराज! भरत के अमात्य एक संदेश लेकर पधारे हैं।

**बाहुबली**—कौन? महाराज भरत के अमात्य? अच्छा आने दो।

(द्वारपाल का प्रस्थान, भरत के अमात्य 'दक्षिणांक' का प्रवेश)

**दक्षिणांक**—महाराज की जय हो! महाराज-भरत का मांगलिक-संदेश लेकर उपस्थित हुआ हूँ।

**बाहुबली**—आओ दक्षिणांक! बड़े दिनों में आये, क्या कभी तुम्हें हमारी याद भी नहीं आती? कहो क्या आज्ञा है महाराज भरत की?

**दक्षिणांक**—स्वामी! महाराज भरत षड्खण्ड को विजित करके अयोध्या की ओर लौट रहे हैं, मार्ग में सेना सहित पूज्य-पिताजी एवं मातुश्री के दर्शनकर नेत्र तृप्त किये। अब आपसे मिलने के लिए स्नेह की सरिता उमड़ रही है।

**बाहुबली**—भाई! तुम्हारे स्वामी की हम पर बड़ी अनुकम्पा है।

**दक्षिणांक**—महाराज! महाराज-भरत अत्यन्त-उदार हैं। सम्पूर्ण-सेना का आग्रह भी वे नहीं टाल सके। हम लोगों ने महाराज से प्रार्थना की कि जब महाराज बाहुबली अयोध्या पधारेंगे, तब हमें आप दोनों भ्राताओं का सम्मिलन देखने का सुयोग कैसे प्राप्त होगा? राजमहल में आपकी स्नेहासिक्त-वार्ता को हम अभागे क्यों कर सुन सकेंगे? 'चक्रवर्ती' और 'कामदेव' का अनूठा-सम्मिलन देखने का सुयोग कैसे प्राप्त होगा?

**बाहुबली**—हाँ दक्षिणांक! ठीक कहते हो। कमल-पत्र पर पड़ी हुई पानी की बूँदें मोती की शोभा को धारण कर लेती हैं। सेना महाराज भरत की है, अतः अवश्य ही अनूठे मानवीय-गुणों से अलंकृत होना चाहिए। लेकिन दक्षिणांक! मैं इस समय अत्यधिक-व्यस्त हूँ। कुछ समय-उपरान्त अयोध्या आकर पूज्य-मातुश्री एवं पूज्य-सहोदर के दर्शन करूँगा।

**दक्षिणांक**—महाराज! सम्पूर्ण-सेना की अभिलाषा वर्षा के अभाव

में नवांकुर की भाँति मुरझा जायेगी। आप दोनों भ्राताओं का विनोद हम किंकरों ने अब तक नहीं देखा है। आपकी अस्वीकृति से हम सभी की कोमल-भावनाओं पर वज्रपात होगा।

**बाहुबली**—ठीक है, किन्तु इस समय अवकाश नहीं मिल सकेगा।

**दक्षिणांक**—महाराज! सेवकों की इच्छा है, उसका निर्वाह करना स्वामी पर ही निर्भर होता है। अयोध्या पधारने के लिए तो अधिक-अवकाश की आवश्यकता है। महाराज! हमारी अभिलाषा तो थोड़े से अवकाश से ही पूरी हो जायेगी। महाराज-भरत पोदनपुर के निकट ही विश्राम कर रहे हैं।

**बाहुबली**—हाँ! हाँ! विश्राम-स्थल तो अत्यन्त-निकट है! किन्तु शासन का भार इस समय इतना बढ़ गया है कि जब सम्पूर्ण-नगर निद्रा की गोद में विश्राम करता है, तब मैं रात्रि की विभूति के रक्षक की भाँति उसके अनंत-तारों की गणना करता हूँ।

**दक्षिणांक**—नहीं स्वामी! मेरी सम्पूर्ण-आशा व विश्वास पर पानी न उड़ेलिये। मैं महाराज-भरत को मुँह नहीं दिखा सकूँगा। अपने बड़े भाई के दर्शन करना भी जीवन के महत्त्वपूर्ण-कार्य का ही एक अंग है।

**बाहुबली**—दक्षिणांक! तुम अपने कार्य की सिद्धि में अत्यन्त-निपुण हो। राजनीतिज्ञ-भरत का अमात्य राजनीतिज्ञ ही होना चाहिए। तुम अपनी वार्ता में जिस बात को अब तक छिपाते रहे हो, उसके रहस्य का उद्‌घाटन मेरे समक्ष तुम्हारे आगमन से पूर्व ही हो चुका है। क्या तुम्हें इसका पता है?

**दक्षिणांक**—महाराज! दो सहोदर, जिन्होंने समानरूप से माता-पिता का स्नेह-सलिल लूटकर अपने मानसरोवर में संग्रहीत किया हो,

उनके सम्मिलन में भी कोई रहस्य हो सकता है ? यह बात मेरे लिए ही नहीं संसार के बड़े-बड़े नीतिज्ञों के लिए भी नयी प्रतीत होगी।

**बाहुबली**—जहाँ तक माता-पिता के दुलार का संबंध है, यह बात उतनी ही पुरानी है, जितनी यह सृष्टि। किन्तु चतुर दक्षिणांक! जहाँ वैभव के त्याग की बात है, यह बात उतनी ही नयी है, जितनी एक नवदम्पत्ति की अतृप्त-वासना।

**दक्षिणांक**—महाराज! आपके अपार, अगाध-बुद्धि-सागर को मेरे सदृश क्षुद्र-जन्तु कैसे तिर सकता है ? किन्तु स्वामी! हमारी सूखी हुई भावना-लतायें आपके सम्मिलन से लहलहाने लगेंगी, हमारा तृषा-संतप्त हृदय-पक्षी चहकने लगेगा और एक सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि छोटे भाई के द्वारा बड़े भाई की मर्यादा की रक्षा की जो आदर्श-परम्परा चली आ रही है, उसकी रक्षा हो सकेगी।

**बाहुबली**—छोटे भाई के द्वारा बड़े भाई की मर्यादा की रक्षा ? यह कैसी अनहोनी बात कर रहे हो दक्षिणांक ? फिर इस समय क्या वे हमारे बड़े भाई हैं ? सेना के सामने एक किंकर की भाँति मुझे बुलानेवाले वे मेरे स्वामी हैं या बड़े भाई ? तुम मुझे बच्चों की तरह फुसलाने का प्रयत्न कर रहे हो ?

**दक्षिणांक**—आप यह क्या कह रहे हैं, महाराज! चक्रवर्ती की हार्दिक-इच्छा यहाँ रुकने की अधिक भी नहीं थी, किन्तु आपके सदृश कामदेव के दर्शन करने की हमारी उत्कट-अभिलाषा को वे टाल न सके। महाराज! क्या आप हमें अपनी दया का पात्र नहीं बनायेंगे। क्या यह हमारे पाप की पराकाष्ठा नहीं होगी।

**बाहुबली**—मेरी दया की भिक्षा लेकर पुण्यवान् बनने का दंभ

करनेवाले दक्षिण! पाप की परिभाषा अपने हृदय से पूछो। मेरे स्वतन्त्र-राज्य की सीमा में आकर चक्र सहसा रुक गया है कि मुझे भी अन्य शक्तिहीन-राजाओं की भाँति पराधीन बनाया जाये। इसलिए तो नगर के बाहर भरत ने सेना-सहित पड़ाव डाला है। तुम अपने चातुर्य के बल पर मेरे प्रवंचन का प्रयास कर रहे हो। बोलो, क्या इसकी सत्यता में सन्देह है?

**दक्षिणांक**—इसकी सत्यता में सन्देह उपस्थित करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है, किन्तु चक्ररत्न को भी दो सहोदरों का अनूठा-सम्मिलन देखने की इच्छा हुई है। सम्राट् ने उसे ताड़ना दी, बलपूर्वक आगे बढ़ाने का प्रयास किया, किन्तु सभी अपमानों को वह महालोभी की भाँति पीकर बैठा है।

**बाहुबली**—दक्षिणांक! मेरा हृदय तुम्हारे कौटिल्य का दर्पण है, इसे भूलकर तुम मेरे समक्ष अपनी प्रतिष्ठा एवं मर्यादा की हानि कर रहे हो। क्या तुमने अपना सारा जीवन राजनीतिक-कुचक्रों में नष्ट कर दिया है?

**दक्षिणांक**—यह राजनीतिक-कुचक्र नहीं महाराज। राजनीतिक-कुचक्रों का संबंध मस्तिष्क से होता है, हृदय से नहीं। यह हम लोगों के हृदय की सच्ची-अभिलाषा है, राजनीतिक-कुचाल नहीं। सम्राट् की उदारता से जितना मैं परिचित हूँ, उतना शायद संसार का कोई व्यक्ति नहीं। वे अनेकबार अपना आधा-राज्य आपको अर्पित करने की इच्छा मुझे प्रगट कर चुके हैं।

**बाहुबली**—पिता के द्वारा जितना राज्य मुझे सहर्ष दिया गया है, मैं उससे सन्तुष्ट हूँ। राज्य का प्रलोभन देकर किसी के स्वाभिमान को

खरीद लेने का व्यापार करनेवाले दक्षिणांक! मेरे हृदय को परखने की चेष्टा मत करो, तुम्हारे हृदय की अभिलाषाओं में कितनी सच्चाई है?—क्या इसका उत्तर स्वयं तुम्हारा हृदय भी दे सकेगा?

**दक्षिणांक**—महाराज! सम्राट् भरत के सहोदर को उत्तर देना इस अकिंचन की क्षमता नहीं है। मैं तो चरणों में मस्तक रखकर विनम्र-विनती करता हूँ।

**बाहुबली**—गुणों के आगे मेरा हृदय स्वयमेव झुक जाता है दक्षिण! किन्तु मुझे बलपूर्वक अपने चरणों में झुकाने का तुम्हारे स्वामी का सपना असत्य-सिद्ध होगा। श्रेष्ठ-माता के सपूत को एक किंकर की भाँति बुलावा देना क्या उसका तिरस्कार नहीं है?

**दक्षिणांक**—महाराज! हमारे स्वामी अपने मन्त्रियों को साधारण-व्यक्तियों के पास नहीं भेजा करते, इसमें स्वयं उनकी प्रतिष्ठा की हानि होती है। महाराज! मेरे आगमन के समय सम्राट् के मन्त्रियों ने आपकी सेवा में अनेक प्रकार की बहुमूल्य-भेंटें भेजी हैं।

**बाहुबली**—तुम्हारे स्वामी तुम्हें साधारण-व्यक्तियों के पास नहीं भेजते, तो वे तुम्हें असाधारण-व्यक्तियों के समीप इसलिए भेजते हैं कि तुम उन पर कुचक्रों का जाल फैलाओ। अनेक भयावह-सन्देश भेजकर छोटे-भाइयों को तो वनवास दे दिया है, किन्तु मेरी शक्ति का विचार करके तुम्हारे सदृश चतुर-अमात्य को मुझे फँसाने के लिए भेजा है। अपनी चाटुकारिता से बाज आओ दक्षिण! मेरी क्रोधाग्नि अधिक प्रज्वलित नहीं करो, बस यहाँ से चले जाओ।

**दक्षिणांक**—स्वामी! मैं जा रहा हूँ, मुझे क्षमा कीजिये।

(प्रस्थान)

('गुणवसंत' एवं 'कलकंठ' का प्रवेश,
वे नमस्कार न कर बैठ जाते हैं।)

**बाहुबली**—गुणवसंत! भरत के अमात्य-दक्षिणांक से तुम्हारी भेंट हुई है?

**गुणवसंत**—महाराज! उनकी आँखों से अविरल-अश्रुपात हो रहा है, गला रुँध गया है, अतः उनसे वार्तालाप न हो सका।

**बाहुबली**—वह चक्रवर्ती-भरत का सन्देश लेकर हमारे समीप आया था कि मैं जाकर नमस्कार करूँ, क्योंकि वे मुझसे बड़े है। क्या नमस्कार उचित है, कलकंठ?

**कलकंठ**—महाराज! विनय एवं सम्मान के अनुरोध से तो छोटे-भ्राता का बड़े-भाई को नमस्कार सर्वथा उचित है; किन्तु जहाँ तक राजनीति का संबंध है, यह नमस्कार हमें उसके सिद्धान्तों से गिरा देगा।

**बाहुबली**—मैंने स्वयं अस्वीकार कर दिया है।

**गुणवसंत**—ठीक है कलकंठ! जाओ और दक्षिणांक को पुनः बुलाकर लाओ। (प्रस्थान)

**बाहुबली**—(गुणवसंत से) सम्राट् को सन्देश भेज दिया जाये कि वे अपनी सेना-सहित तैयार रहें।

**गुणवंसत**—राजनीति तो यही है महाराज! यह लोकनीति नहीं कि मनुष्य हर किसी के समक्ष विनय से झुक जाये।

(कलकंठ एवं दक्षिणांक का प्रवेश)

**बाहुबली**—(दक्षिणांक से) दक्षिण! सुनो, मैं समझ गया हूँ कि तुम्हारे स्वामी हम पर आक्रमण किये बिना न रहेंगे; किन्तु युद्ध यहाँ नहीं होगा; बल्कि युद्ध वहीं होगा, जहाँ तुम्हारी सेना ने पड़ाव डाल

रखा है। तुम्हारे स्वामी को षड्खण्ड जीतने का अभिमान है, उसका प्रदर्शन वे इस कामदेव के सामने रखना चाहते हैं, जाकर कह दो कि इसका निर्णय रणक्षेत्र में होगा। वे अपनी सेनायें सुसज्जित रखें।

**दक्षिणांक**—जो आज्ञा महाराज! (दक्षिणांक का नमस्कार करके प्रस्थान)

पटाक्षेप

---

## तृतीय-दृश्य

(महाराज भरत का दरबार। दो अमात्य सामने बैठे हैं।)

**भरत**—बासन्तक! बाहुबली की ओर से क्या समाचार हैं?

**बासन्तक**—सम्राट्! महाराज बाहुबली के हठ एवं अभिमान से आप और हम सब परिचित हैं, आपके सन्देश की निर्मल-धारा उनके पाषाण-हृदय पर उसी तरह नहीं टिक सकेगी, जैसे तपते-तवे पर जल की बूँदें।

**भरत**—तो दक्षिणांक अभी नहीं आये?

**मागध**—नहीं महाराज! आ ही रहे होंगे।

(द्वारपाल का प्रवेश)

**द्वारपाल**—महाराज की जय हो। अमात्यवर-दक्षिणांक पधार रहे हैं।

**भरत**—जाओ, आने दो।

(द्वारपाल का प्रस्थान, दक्षिणांक का प्रवेश।
वह अत्यन्त-उदास, नतमस्तक, झुककर नमस्कार करता है।)

**भरत**—आओ दक्षिणांक! कुशलतापूर्वक लौटै हो न ?

**दक्षिणांक**—महाराज! मैं आपके समक्ष मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ, आपके चरणों में जो संकल्प लेकर मैं पोदनपुर गया था, वह पूर्ण नहीं हो सका है। धिक्कार है उस सेवक को, जो स्वामी के कार्य की सिद्धि के बिना ही लौट आया है।

**भरत**—दक्षिण! इसमें क्षोभ की कोई बात नहीं है। कार्य की सिद्धि पर हमारा कोई अधिकार नहीं है, किन्तु उसकी सिद्धि के लिए भरसक-प्रयत्न करना हमारा अधिकार और कर्तव्य है। क्या बाहुबली को अनुकूल बनाने में तुम्हारे प्रयत्न में कोई कमी रही ?

**दक्षिणांक**—सम्राट्! उनको अनुकूल बनाने में मैंने कोई कसर नहीं उठा रखी। स्वामी मैंने अति-विनयपूर्वक राजनीति, धर्मनीति एवं लोकनीति से हर-प्रकार उन्हें यहाँ लाने का प्रयत्न किया। आपमें और उनमें कोई भेद न रखकर भक्ति की पराकाष्ठा कर दी। जिन लोगों ने मेरी वार्ता सुनी, सबके हृदय मोम की भाँति पिघलकर पानी हो गये, किन्तु महाराज बाहुबली के पाषाण-हृदय को समझने में मैं सर्वथा असमर्थ रहा। मेरी सफलता के इतिहास में यह बात कलंक बनकर मेरे हृदय में काँटे की भाँति कसक उत्पन्न करती रहेगी।

**भरत**—इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है दक्षिण! बाहुबली के हठ एवं अभिमान से मैं अच्छी तरह से परिचित हूँ, आज वह बड़े भाई को नमस्कार करने में अपना अपमान समझने लगा है। एक छोटे-से राज्य का ऐसा अभिमान ? धिक्कार है उसकी बुद्धि की जड़ता को। और भी कोई समाचार है ?

**दक्षिणांक**—महाराज! एक बार गहरी-ताड़ना देकर उन्होंने मुझे

लौटा दिया, पश्चात् पुनः कलकंठ को बुलाने के लिए भेजा। मैं पुनः उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। बाहुबली कहने लगे कि "मैं समझ गया हूँ कि तुम्हारे स्वामी हम पर आक्रमण किये बिना न रहेंगे, किन्तु उन्हें यहाँ आने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं आकर उनसे मिलूँगा। उन्हें षट्खण्ड जीतने का अभिमान है। उनसे कह देना इसका निर्णय रणक्षेत्र में होगा, अपनी सेनायें सुसज्जित रखें।" इतना कहकर उन्होंने अपने मन्त्रियों को आज्ञा दी कि "भरत का कोई भी व्यक्ति मेरे नगर की सीमा में पैर न रखने पावे।"

**भरत**—मैं उसके अभिमान को एक-क्षण में मिट्टी के खिलौने की भाँति टूक-टूक कर दूँगा। वह समझता है कि उसका शरीर मुझसे अधिक ऊँचा है, किन्तु मैं एक ही अँगुली में उसे चक्र की भाँति घुमा दूँगा। किन्तु मुझे विचार आता है दक्षिण! छोटे भाई पर शक्ति का प्रदर्शन धर्मनीति के कहाँ तक अनुकूल है? क्या संसार की दृष्टि में मेरा यह कार्य उचित होगा? सोचता हूँ, यदि भाई के स्थान पर कोई दूसरा होता, तो केवल अपने भृकुटि-विक्षेप से उसे यमलोक पहुँचा देता; किन्तु सहोदर के हृदय को इस तरह से त्रस्त करना कहाँ तक उचित होगा? वह नादान है, तो क्या मैं भी अपने विवेक का परित्याग कर दूँ? अमात्य-वृन्द! आप लोग चिन्ता न कीजिए, मैं किसी भी प्रकार से उसे जीत लूँगा। दक्षिण! उठो और अपना यह पुरस्कार स्वीकार करो।

(पुरस्कार देते हैं)

**दक्षिणांक**—(खड़ा होकर नमस्कार करता है और कहता है) सम्राट्! मैं इस पुरस्कार के लिए सर्वथा-अयोग्य हूँ, मेरा हृदय साक्षी नहीं देता।

**भरत**—नहीं दक्षिण! इसे मेरा आग्रह समझकर स्वीकार करो। कुछ अन्यथा-विचार मत करो और सम्पूर्ण-चिन्ता और विषाद से मुक्त होकर विश्राम करो। (दोनों मन्त्रियों की ओर झुककर) अमात्यवर! अब हम लोग विश्राम करें। चलिये।

(सबका प्रस्थान)

पटाक्षेप

---

## चतुर्थ-दृश्य

(दो विद्याधर रात्रि को शयन-कक्ष में विश्राम कर रहे हैं। अचानक दोनों की नींद खुल जाती है और अर्द्धरात्रि को दोनों वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं।)

**प्रथम**—भाई! करवट बदलते-बदलते आधी रात हो गई। आज तो नींद ही नहीं आती।

**द्वितीय**—भाई! मेरा भी यही हाल है। सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ है। वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं हिलता।

**प्रथम**—भरत की सारी सेना तरंग-रहित समुद्र की भाँति निद्रादेवी की गोद में विश्राम कर रही है। पक्षी अपने घोंसलों में सोये हुए हैं, केवल हम दोनों रात्रि के प्रहरी की भाँति जाग रहे हैं।

**द्वितीय**—अरे नहीं! नहीं! तुम मेरी बात समझते ही नहीं। तुम तो उसे यों उड़ा देते हो, जैसे एक तिनके को भीषण-आँधी।

**प्रथम**—अच्छा भाई! कुछ कहो तो, या यूँ ही भूमिका बाँधते रहोगे।

**द्वितीय**—अच्छा सुनो! एक-एक बिन्दु मिलकर बड़ा भारी सागर बनता है, एक-एक तार मिलकर मोटी-रस्सी बन जाती है।

**प्रथम**—और एक-एक ईंट से मिलकर बड़ा भव्य-भवन खड़ा हो जाता है।

**द्वितीय**—हाँ ठीक, बिल्कुल ठीक। इसीप्रकार चक्रवर्ती की महिमा बड़ी है। सेना न हो, तो चक्रवर्ती की बात भी न पूछे।

**प्रथम**—हाँ भाई! मैं समझ गया कि यह दुनियाँ वास्तव में कितनी पागल है। लड़ती सेना है और कहती है "राजा लड़ रहा है।" जीत सेना की होती है और कहती है "राजा जीता।"

**द्वितीय**—वाह भाई! वाह, मैं तो समझता था कि तुम भी गोबर-गणेश ही हो, पर तुम तो बड़े बुद्धिमान् निकले। अब मेरी बात सुनो, हाथी, घोड़ा आदि सेनाओं को संग्रह करके चक्रवर्ती दुनिया के सामने बड़े शक्तिशाली बन बैठे हैं; पर सेना न हो, तो भी हमारी ही तरह साधारण से मनुष्य ही तो हैं। क्या अन्तर है उनमें और हम में?

**प्रथम**—कुछ अन्तर नहीं भाई! पर दुनियाँ तो दोगली होती है, चींटी तो उधर ही जाती है, जिधर गुड़ होता है। तुम और हम भी तो विद्याधर हैं, अपनी शक्ति कौन चक्रवर्ती से कम है।

**द्वितीय**—बस, ठीक है, बिलकुल ठीक। अब तुम पूरी तरह समझ गये हो। अच्छा तो अब रात्रि बहुत हो गयी, थोड़ी झपकी ले लें।

**प्रथम**—अरे। झपकी लेने चले, पर यह बात अगर चक्रवर्ती ने सुन ली होगी, तो?

**द्वितीय**—अरे नहीं सुना, चक्रवर्ती अपने महल में सो रहे हैं, यहाँ

कहाँ अपनी बात सुनने आ गये। जैसे हमारे कान हैं, वैसे उनके कान हैं। तुम तो पाँव पसारकर बेफिक्री से सो जाओ।

(दोनों ओढ़कर सो जाते हैं।)

पटाक्षेप

---

## पंचम दृश्य

(भरत का दरबार। महाराज-भरत राजसिंहासन पर राजसी-वस्त्रों से सुशोभित बैठे हैं, मन्त्री, मित्र, प्रजाजन आदि भी यथास्थान बैठे हैं।)

**पहला मंत्री (बासन्तक)**—महाराज! आपने हमें आदेश दिया था कि बाहुबली के संबंध में किसीप्रकार की चिन्ता न करना। सो हम तो चिन्तामुक्त हो गये हैं, किन्तु आप ही बहुत चिन्ताग्रस्त प्रतीत हो रहे हैं।

**भरत**—अमात्यवर! मुझे बाहुबली की तनिक भी चिन्ता नहीं है, किन्तु आज रात को निद्रा में कनिष्ठा-अंगुली की नस अकड़ गयी है, अतः अँगुली सीधी ही नहीं होती।

**दूसरा मंत्री (मागध)**—महाराज! संसार में अधिकांश-लोगों के शरीर और व्यवहार में वक्रता होती है, किन्तु आपके तो शरीर और व्यवहार में किसी भी प्रकार की वक्रता नहीं है। यह अँगुली का टेढ़ापन हमें आश्चर्य में डाल रहा है।

**बासन्तक**—महाराज! हम आपका कष्ट दूर करने के लिए प्राणों की भी चिन्ता नहीं करते। ऐसे स्वामी की सेवा के लिए अपने-अपने प्राणों को न्योछावर कर देना भी जीवन की सफलता है। जरा अँगुली तो बताइये सम्राट्।

(मन्त्री हाथ लगाकर देखता है, अन्य मंत्री, मित्रादि एकत्रित हो जाते हैं और सम्राट् की अँगुली को हाथ लगाकर देखते हैं, सम्राट् अत्यधिक-वेदना की चेष्टा करते हैं। मन्त्री बासन्तक, दूसरे मंत्री मागध को आज्ञा देते हैं; मागध जाता है और अंगवैद्यों व राजवैद्यों को बुलाकर लाता है और सम्राट् की अँगुली पर औषधि का प्रयोग करते हैं, सम्राट् उसी वेदना का अभिनय करते हैं।)

**भरत**—वैद्यवृन्द! आपकी औषधि कभी किसी रोग पर असफल नहीं होती, किसी चतुर-धनुर्धर की भाँति रोग आपका निशाना बन जाता है; किन्तु मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा कि इस छोटे से रोग पर ये बड़ी-बड़ी औषधियों के प्रयोग भी क्यों असफल हो रहे हैं और मेरे अंगवैद्य! आज तुम्हें भी क्या हो गया है ?

(सभी नतमस्तक हो जाते हैं)

अमात्यवृन्द! अब यों काम न चलेगा, सभी मन्त्रवादी एवं पहलवानों को बुला लाओ।

(बासन्तक मागध को आज्ञा देते हैं)

**बासन्तक**—मागध! जाओ और सभी मन्त्रवादी और पहलवानों को बुलाकर लाओ।

(मागध जाता है, कुछ समय में मन्त्रवादी और पहलवानों को बुलाकर लाता है।)

**भरत**—(मन्त्रवादियों से) आप लोगों की प्रबल मन्त्र-शक्तियों की मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी है। अब आप मन्त्रों के प्रयोग इस छोटी-अंगुली पर आरम्भ कीजिए। (पहलवानों से) और मेरे शक्तिशाली पहलवानो! तुम्हारे प्रबल मुष्ठि-प्रहार से मदोन्मत्त-हाथियों के मद भी गल जाते हैं,

तो इस छोटी-सी अंगुली को सीधा करना तो तुम जैसे शक्तिशाली-लोगों के लिए क्या कठिन काम है ? आओ और अपनी सम्पूर्ण-शक्ति से सीधा करो।

(पहलवान आते हैं और अँगुली पर बल प्रयोग करते हैं, पर अँगुली सीधी नहीं होती तथा सम्राट् वही तीव्र-वेदना का अभिनय करते हैं।)

**भरत**—मन्त्रिवर। यों काम न चलेगा। तुम एक मोटी लोहे की सांकल तैयार कराओ। मैं अँगुली को उससे बाँध दूँगा और फिर समस्त सेना एवं प्रजाजन बलपूर्वक साँकल को खींचे, फिर देखता हूँ यह छोटी-सी अँगुली कैसे सीधी नहीं होती है ?

(बासन्तक विश्वकर्मा को साँकल लाने का आदेश देता है)

**बासन्तक**—विश्वकर्मा! जाओ और साँकल लाओ।

(विश्वकर्मा जाकर साँकल लाते हैं, भरत साँकल से अँगुली बाँध लेते हैं, फिर सारी सेना एवं प्रजाजनों को खींचने का आदेश देते है, पर अँगुली सीधी नहीं होती।)

**भरत**—नहीं, यह तरीका ठीक नहीं है; एक काम और करें, मैं साँकल को अपनी ओर खींचता हूँ और आप सब अपनी ओर खीचें, तब तो अँगुली अवश्य ही सीधी हो जायेगी। (साँकल को अपनी ओर खींचते हुए) हाँ खींचो। अरे! तुम सबका बल कहाँ चला गया? अपनी सम्पूर्ण-शक्ति लगाकर खींचो। (सभी खींचते हैं तथा सबके मुँह से बल-प्रयोग की ध्वनि निकलती है, भरत अँगुली को एकबार स्वाभाविकरूप में अपनी ओर खींचते हैं और सभी लोग मुँह के बल गिर पड़ते हैं, भरत हँस देते हैं।)

**बासन्तक**—महाराज! यह कोई छोटी-मोटी व्याधि नहीं है। यह हम जैसे शक्तिहीन-लोगों के बस की बात नहीं है, अब आप ही इसे सीधा कीजिए। दूसरों से यह रोग दूर नहीं होता। (भरत साँकल से अंगुली निकालकर सीधी कर लेते हैं। लोग आश्चर्य में डूब जाते हैं, सभी सम्राट् भरत का जयघोष करते हैं।)

**बासन्तक**—सम्राट्! आपके पराक्रम के आगे आज हम सबका गर्व इसप्रकार चूर हो गया है, जैसे चक्की के दो पाटों के बीच में अनाज पिस जाता है। कृपा करके यह बताइये कि यह लीला करने का अवसर आज क्यों उपस्थित हुआ है?

**भरत**—मन्त्रीवर। क्या इसका कारण स्पष्ट होना ही चाहिए? इससे क्या लाभ होगा?

**बासन्तक**—महाराज। सम्पूर्ण सेना एवं प्रजाजनों की उत्कण्ठा बढ़ रही है, कृपा करके उनकी उत्कण्ठा शान्त कीजिए।

(दो विद्याधरों का प्रवेश)

**दोनों**—चक्रवर्ती सम्राट् भरत की जय हो।

**भरत**—प्रिय विद्याधरो! आओ, कहो आज यहाँ कैसे आना हुआ?

**विद्याधर**—सम्राट्! हमारे अपराध क्षमा कीजिये।

**भरत**—अपराध! तुमने क्या अपराध किया है भाई?

**विद्याधर**—महाराज! आपके अतुल-पराक्रम का परिज्ञान न होने के कारण हमसे आपकी अवज्ञा हुई। हमें क्षमा कर दीजिये सम्राट्!

**भरत**—तो कल रात्रि के तीसरे-पहर उत्तर-दिशा की ओर तुम्हीं सारी दुनियाँ को पागल बना रहे थे कि "शक्ति तो सेना की ही होती

है और दुनियाँ कहती है कि राजा बड़ा शक्तिशाली है।'' क्या यह तुम्हीं ने कहा था कि ''सेना न हो, तो कोई चक्रवर्ती की बात भी न पूछे?''

**विद्याधर**—हाँ सम्राट्? हमने घोर-अपराध किया है, हमें क्षमा कर दीजिये।

**भरत**—तुम्हें ऐसा अविवेकपूर्ण-कार्य नहीं करना चाहिए था। सेना राजा का एक शस्त्र अवश्य होती है, किन्तु उस शस्त्र के संचालन की क्षमता राजा में ही होती है। यदि राजा में पराक्रम न हो, तो थोड़े ही समय में शासन-सूत्र ढीला होकर राज्य में अराजकता फैल जाती है।

**विद्याधर**—यह बिलकुल-सत्य है महाराज! सामान्य-राजा ही इतना पराक्रमी होता है, फिर चक्रवर्ती की तो बात ही क्या? चक्री तो असाधारण-मानव होते हैं। आज आपकी कनिष्ठा-अँगुली के कौतूहल प्रदर्शन की चर्चा सुनकर मनुष्य क्या, देव भी चकित हो रहे हैं।

(प्रतिहारी का प्रवेश)

**प्रतिहारी**—महाराज की जय हो। राजमाता अँगुली की चर्चा सुनकर अत्यन्त-विह्वल हो रही हैं। शीघ्र पधारकर उन्हें सान्त्वना प्रदान कीजिये।

**भरत**—ठीक है, जाओ, हम आ रहे हैं। अच्छा, अब मैं मातुश्री के शीघ्र दर्शन करना चाहता हूँ। आप सब अपने-अपने स्थान पर पधारकर विश्राम करें।

(सबका प्रस्थान)

---

## षष्ठम-दृश्य

(भरत, दरबार में मन्त्री एवं मित्रों के साथ बैठे हैं।)

**भरत**—बाहुबली को अपने बल का कितना अभिमान हो गया है, माता एवं रानियाँ समझा-समझाकर थक गयीं, किन्तु यह कब मानने चला है ? क्या विवेक भी रूठ गया उससे ?

**बासन्तक**—सम्राट्! अभिमान और विवेक में अग्नि और ईंधन जैसी शत्रुता है। भला जिसका पतन अवश्यम्भावी हो, वह अभिमान के शिखर पर न चढ़ेगा, तो नीचे गिरेगा कैसे ?

(एक चर का प्रवेश)

**चर**—महाराज की जय हो। महाराज! बाहुबली युद्ध के लिए पधार आये हैं।

**भरत**—ठीक है, युद्ध के अस्त्रों के विषय में सुना क्या तुमने ?

**चर**—महाराज! युद्ध कुसुमास्त्रों से नहीं लोहास्त्रों से होगा।

**बासन्तक**—सम्राट्! युद्ध लोहास्त्रों से होगा, किन्तु चक्रवर्ती और कामदेव का तो युद्ध में बाल भी बाँका नहीं हो सकता, क्योंकि वे चरम-शरीरी हैं। असंख्य-सेना का वृथा-संहार होगा सम्राट्! इस पर विचार होना चाहिए।

**भरत**—तो तुम्हारी क्या इच्छा है अमात्य!

**बासन्तक**—महाराज! यदि सेनाओं में लोहास्त्र से युद्ध होगा, तो प्रलयकाल के दृश्य उपस्थित होंगे। युद्ध को धर्म का रूप दे दिया जाए—ऐसी हम सभी की प्रार्थना है।

**भरत**—ठीक है, लोकादर्श को गिरानेवाले इस सहोदर-युद्ध का फल निरपराध-सैनिकों को क्यों भोगना पड़े, दोनों ही सहोदर उसे क्यों न भोगें ? किन्तु इसका निर्णय मैं नहीं कर सकता, बाहुबली से जाकर

पूछो। वे जो भी निर्णय करें, हमें स्वीकार होगा। मागध! प्रजाजन को लेकर बाहुबली के पास जाओ और शीघ्र ही युद्ध के निर्णय से हमें सूचित करो।

(मागध का प्रस्थान)

**बासन्तक**—महाराज! सम्पूर्ण-सेना एवं प्रजा में युद्ध के समाचार से खलबली मच गयी है। चक्रवर्ती की सेना, जिसने कभी यह नहीं जाना कि पराजय क्या होती है, आज युद्ध के नाम से उसे रोमांच हो गया है।

**भरत**—अमात्य! सैनिकों का तो युद्ध ही जीवन होता है। इसमें भय की कौन-सी बात है? फिर चक्रवर्ती की सेना को तो पराजय की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए।

**बासन्तक**—पराजय की कल्पना भी तो मानसिक-पराजय है सम्राट्! किन्तु भाई-भाई का यह युद्ध न्यायोचित नहीं है महाराज! भीषण-रक्तपात होगा ही, किन्तु सबसे बड़ा दुष्परिणाम तो यह होगा कि लोक में भ्रातृ-स्नेह की पावन-परम्परा ही समाप्त हो जायेगी।

(मागध का प्रवेश)

**भरत**—कहो मागध! सकुशल लौट आये, क्या निर्णय किया बाहुबली ने?

**मागध**—स्वामी! महाराज बाहुबली ने धर्मयुद्ध सहर्ष स्वीकार कर लिया है। प्रथम 'दृष्टि-युद्ध' होगा, दूसरा 'जल-युद्ध' एवं तीसरा 'मल्ल-युद्ध' होगा।

(सब चले जाते हैं, केवल भरत रह जाते हैं।)

**भरत**—(स्वगत) सहोदर के साथ धर्म-युद्ध भी कैसे किया जाये। उसके हाथ-पैर बाँधकर छोटी-माँ के पास क्यों न भेज दूँ? नहीं! नहीं! सेना के सामने अपना अपमान देखकर वह घर में नहीं रहेगा, दीक्षा के लिए निकल जायेगा। अन्य-सहोदरों की भाँति इसको भी खोना पड़ेगा और भ्रातृ-स्नेह से वंचित होकर मेरा यह जीवन क्या भू पर भार नहीं हो जायेगा? ओह! लोग मुझे कुटुम्ब-द्रोही कहेंगे। नहीं! नहीं! यह अधम-कृत्य मुझसे नहीं होगा। हे अन्तरात्मा! इसका उपाय आप ही बताओ। (कुछ ठहरकर जैसी किसी की बात सुन रहा हो) अच्छा। (हँसकर) ऐसी बात है। ठीक है, समझ गया मैं। हे सिद्धान्त! ऐसी विकट-घड़ियों में आप ही मेरे रक्षक रहे हैं।

(मन्त्री मागध का प्रवेश, वह भरत को नमस्कार करता है।)

**मागध**—महाराज! बाहुबली युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़े हैं, आपकी प्रतीक्षा की जा रही है।

**भरत**—अच्छा! चलो। (उठकर खड़े हो जाते हैं।)

**मागध**—स्वामी! महाराज बाहुबली एक मल्ल की भाँति युद्ध के लिए लंगोट लगाकर खड़े है और आप इसप्रकार कैसे पधार रहे हैं? महाराज! आपकी शक्ति अतुल्य है, किन्तु युद्ध में तो पूर्ण-सुसज्जित होकर ही जाना चाहिए।

**भरत**—तुम चिन्ता न करो मागध। मेरी पराजय नहीं होगी। चलो चलें।

(प्रस्थान)

पटाक्षेप

---

## सप्तम-दृश्य

(भरत एवं बाहुबली युद्धक्षेत्र के लिए दो पर्वतों की भाँति तैयार खड़े हैं। दोनों के मन्त्री, प्रजा एवं सेना आदि आश्चर्यचकित-नेत्रों से चक्रवर्ती एवं कामदेव को देख रहे हैं। युद्ध की रणभेरी बज रही है, तभी रणभेरी बन्द करने की आज्ञा देते हैं।)

**भरत**—अमात्यवर! रणभेरी बन्द कर दी जाये।

(अमात्य सैनिकों को रणभेरी बन्द करने का आदेश देते हैं।)

**भरत**—(बाहुबली से) प्रिय सहोदर! आज तुम्हारे और मेरे बीच युद्ध का यह अवसर क्यों उपस्थित हो रहा है, क्या तुमने इस पर विचार किया है? भाई! तुमने तो मेरा कोई अपराध नहीं किया, किन्तु बोलो तो क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है? क्या तुमसे कर-वसूल करने के लिए मैंने कभी अपने दूतों को तुम्हारे राज्य में भेजा है? क्या मेरे मन्त्री या प्रजाजनों ने कभी तुम्हारा तिरस्कार किया है?

भाई! मन में ऐसा विचार न करना कि युद्ध से डरकर मधुर-मधुर बातों से तुम्हारे प्रवंचन का प्रयास कर रहा हूँ। युद्ध तो करेंगे ही किन्तु युद्ध से पूर्व सम्भावित-प्रश्नों के समाधान से तुम्हारा और मेरा हृदय इतना स्वच्छ हो जाना चाहिए कि यह युद्ध वास्तव में सदा के लिए धर्मयुद्ध का आदर्श बन जाए।

**बाहुबली**—युद्ध का अवसर मैंने उपस्थित नहीं किया, वह तो आपने उपस्थित किया है। पिताश्री के द्वारा जो राज्य मुझे दिया गया है, उसके उपभोग का अधिकार मुझे है। आपने उसे हड़पने का प्रयत्न क्यों किया? यदि नहीं, तो दक्षिणांक जैसे कूटनीतिज्ञ को मेरे पास भेजने में आपका क्या उद्देश्य था?

**भरत**—भाई! मैं तुमसे थोड़ा बड़ा हूँ, अतः मैंने तुम्हें अपने पास बुलवाया। यदि तुम मुझसे बड़े होते, तो मैं तुम्हारे पास आता। छोटा-भाई बड़े-भाई के पास जाये तो क्या अनुचित लगता है? भाई! तुम मेरे शत्रु हो या मैं तुम्हारा शत्रु हूँ, इतना क्रोध किसलिए कर रहे हो?

**बाहुबली**—अपनी छोटी-अँगुली को टेढ़ा करने का जो नाटक आपने किया था, उससे आपका उद्देश्य मुझे डराने के अतिरिक्त क्या हो सकता है? मैं युद्ध के लिए कटिबद्ध हूँ, आपके लिए केवल दो ही मार्ग हैं, आगे बढ़कर युद्ध करो या पराजय स्वीकार करो।

**भरत**—आज दो सहोदरों के युद्ध का तमाशा देखने के लिए यह दुनिया खड़ी है। भगवान् आदिनाथ के पुत्र आज एक दूसरे के प्राणों के ग्राहक बन रहे हैं। क्या हमारा इक्ष्वाकु-कुल हमारे इन कृत्यों से कलंकित न होगा? भाई! क्या लोग यह न कहेंगे कि आज ये कपूत त्रैलोक्य-शिरोमणि भगवान् आदिनाथ के पावन-कुल को कलंकित करने जा रहे हैं, भ्रातृ-स्नेह की पावन-संतति को आज हम भस्मसात् कर रहे हैं—यह अपने कुल के लिए ही नहीं, किन्तु विश्व के प्रति हमारा महान्-अपराध न होगा?

भाई! मुझे इस चक्ररत्न की तनिक भी अभिलाषा नहीं, यह स्वतः युद्धशाला में उत्पन्न हो गया और इसने मुझे सम्पूर्ण-पृथ्वी में भटकाया है। भाई! तनिक मेरी ओर तो देखो, मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ। लो, यह सम्पूर्ण-राज्य (सेना की और संकेत कर) तुम सम्भालो। मैं षट्-खण्ड की विजय करके आया हूँ, तुम्हीं इसके स्वामी हो? (बाहुबली अत्यन्त-लज्जित होकर मुँह सीधा कर लेते हैं व नतमस्तक खड़े हो जाते हैं।)

**भरत**—(चक्र की ओर मुँह करके) ओ चक्र-पिशाच! अब मुझे

तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे स्वामी अब बाहुबली है, इनकी आज्ञा में प्रवर्तन करो। अरे निर्लज्ज! अपने स्वामी के चरणों में जाकर क्यों नहीं झुकता। (चक्र को ठोकर मारते हैं।)

(बाहुबली से) भाई! अब शांत हो जाओ। यदि युद्ध की बात सोचें, तो तीनों ही युद्धों में तुम्हारी विजय है। तुम मुझसे ऊँचे हो, अत: 'दृष्टि-युद्ध' में तो मेरी आँखों को ऊपर देखते-देखते थककर हारना ही पड़ेगा। 'जल-युद्ध' में भी तुम सरलता से मेरे ऊपर पानी उछालकर मुझे पराजित कर दोगे और मल्ल-युद्ध में भी तो प्रत्यक्ष ही तुम्हारी विजय निश्चित है। अब मुझे क्षमा कर दो भाई! आज सब लोगों की साक्षी में मैं हारा और तुम्हारी विजय हुई।

**बाहुबली**—(अत्यन्त-विनय पूर्वक भरत की ओर मुँह करके) मुझे जीवनदान देनेवाले आत्मवेत्ता भ्राता! मैंने आपके ऊपर काँटे बरसाये, किन्तु आपने मुझ नीच पर फूलों की वर्षा की। ओह! मैं कितना अधम हूँ। यह मस्तिष्क आपके विशाल हृदय-सागर को नहीं माप सका। पूज्य! मुझ अधम को क्षमा कर दीजिए।

**भरत**—भाई! दु:खी न होओ, तुमने कोई अपराध नहीं किया।

**बाहुबली**—नहीं! मेरा हृदय साक्षी नहीं देता। मैंने घोर-अपराध किया। यह पाप तो धोना ही पड़ेगा। मेरी एक इच्छा है, पूज्य। आप उसे स्वीकार कीजिए।

**भरत**—क्या संकोच हो रहा है भाई। नि:संकोच कहो।

**बाहुबली**—मुझे दीक्षा-ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कीजिए, मैं तपोवन में जाऊँगा।

**भरत**—यह एक बात छोड़कर और कोई बात हो तो कहो भाई!

क्या मुझे संसार के कोई कष्ट भोगने के लिए अकेले छोड़ जाना चाहते हो। युद्ध में तुम्हारी पराजय नहीं हुई है, जिससे इतने उदासीन हो गये हो। आज तो प्रसन्नता की बातें करो।

**बाहुबली**—आप महान् हैं, भ्राता! मेरी पराजय का मेरा हृदय साक्षी है। मेरी निष्ठुरता से चक्ररत्न भी मेरे समीप न आ सका। मुझे अपने दुष्कृत्यों का प्रायश्चित कर लेने दीजिए।

**भरत**—नहीं भाई! मुझे अप्रसन्न करना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है, मुझे प्रसन्न करके ही जा सकोगे।

**बाहुबली**—पूज्य-भ्राता! मैं दीक्षा लेकर मोक्ष-मन्दिर में आपकी प्रतीक्षा करूँगा। अब तक आपके संरक्षण में था, अब पिताजी के संरक्षण में कैलाश पर जा रहा हूँ। ओह! यह संसार कितना क्षणभंगुर है। इस क्षणिक-ऐश्वर्य पर मैंने कितना मिथ्या-अभिमान किया। अपने स्वरूप को भूलकर बहुत दूर भटक गया हूँ मैं, मुझे अपना दिव्य-प्रकाश दो भाई, मैं घोर-अन्धकार में ठोकरें खा रहा हूँ। बस, मुझे दीक्षा की अनुमति प्रदान कीजिए। मुझे अब सांसारिक-सुखों की लालसा नहीं रही।

**भरत**—नहीं, तुम और मैं कुछ समय राज्य-शासन व्यवस्थित करके दीक्षा लेंगे। मैं तुम्हारे भरोसे हूँ, पर तुम मुझे छोड़कर पहिले ही जा रहे हो। अभी कुमार महाबल भी तो राज्य संभालने योग्य नहीं हुआ है।

**बाहुबली**—भ्राता! कुमार महाबल नहीं, तो कुमार अर्ककीर्ति तो सर्वप्रकार शासन के योग्य है। यह मेरा राज्य उसे संभला दीजिए, मैं अब इस संसार में नहीं रह सकूँगा। भ्राता! मुझे आज्ञा दीजिए।

(बाहुबली भरत के चरणों में मस्तक रख देते हैं,
भरत के नेत्रों से धाराप्रवाह अश्रुपात हो रहा है।)

**भरत**—उठो भाई! मेरा यह निर्बल-हृदय तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकेगा; किन्तु कल्याण के पथ पर जा रहे हो भाई। जाओ।

(बाहुबली अपने पुत्र महाबल कुमार को भरत के चरणों में झुका देते हैं और स्वयं भरत को नमस्कार कर सबसे क्षमा माँगकर दीक्षा के लिए चले जाते हैं।)

**भरत**—ओह! अमात्य! मेरी राज्य-लिप्सा के कारण मेरे सभी सहोदरों ने वनवास ले लिया है। क्या अब साधारण-लोगों की दृष्टि में यह चक्रवर्ती हीन-दृष्टि से नहीं देखा जायेगा? आज में सहोदर-स्नेह से वंचित होकर राजप्रासादों में क्या करूँगा।

**बासन्तक**—महाराज! आज आप मानसिक-वेदना से बहुत थक चुके हैं। सम्पूर्ण सेना एवं प्रजाजन शोकसागर में डूब रहे हैं। यह संसार की विविधता है महाराज! मनुष्य जैसी सोचता है वैसा नहीं होता। अब चिन्ता का परित्याग करके प्रासाद में पधारिये।

(सबका प्रस्थान)

पटाक्षेप

---

## अष्टम दृश्य

(जंगल में होकर बाहुबली दीक्षा के लिए पधार रहे हैं। वैराग्य में डूबे हैं, पीछे से भरत के दो महाभक्त 'कुटिलनायक' एवं 'शट-नायक' जाकर उन्हें महा-अपमान भरे शब्द कहते हैं। बाहुबली खड़े-

खड़े सुनते हैं।)

**कुटिलनायक**—हे भाग्यफूटे बाहुबली! सुनो, हमारे स्वामी षट्खण्ड के विजेता भरत को नमस्कार करके तुम सुख से न रह सके। अब भिक्षा के लिए तो भरत के दरबार में ही आना पड़ेगा। सोने के लिए, खाने के लिए, बैठने, उठने और तपश्चर्या के लिए भरत के राज्य के अतिरिक्त दूसरा-स्थान तुम्हें कहाँ है? राज्य में रहकर सुख भोगना तो तुम्हारे भाग्य में नहीं लिखा। अब भटक-भटककर टुकड़े माँग-माँगकर खाने का समय आ गया है। भाई से विद्रोह करने का फल इसी जन्म में चखो।

**शटनायक**—(व्यंग्य से) पधारो राजन्! पधारो, भीख माँगकर भोजन करो। घास और काँटों से भरे जंगलों में सोओ। अब तुम्हारी दशा बिगड़ने का समय आया है। हमारे स्वामी का तिरस्कार करके कभी सुख से रह नहीं सकते।

**बाहुबली**—और कहो शटनायक! क्या इतने से ही मेरी परीक्षा कर चुके? और मित्र कुटिलनायक! तुम्हारे यह वचन मेरी वैराग्य की वज्र-दीवार भेदकर मेरे हृदय में प्रविष्ट न ही हो सके। तुम्हारे ये अग्निबाण मेरे वैराग्य-सागर में डूब कर शांत हो गये हैं। और बोलो, क्या कहना चाहते हो?

**कुटिलनायक**—कुछ नहीं! तुम्हारे मान का मर्दन करना था और वह हो गया। भरत की भूमि में ही अब तुम्हें अपनी सारी चर्या करनी पड़ेगी और कोई स्थान नहीं है संसार में तुम्हारे लिए। जाओ।

पटाक्षेप

---

## नवम-दृश्य

(विपिन-तपोवन में बाहुबली तपस्या कर रहे हैं। एक वर्ष हो गया है, पैरों के ऊपर मिट्टी की मोटी तहें जम गयी हैं, जिनमें सर्पों ने बांबियाँ बना ली हैं। सम्पूर्ण-शरीर पर वन-लताएँ छा गयी हैं। फिर भी तपश्चर्या में रत हैं, मानों पत्थर की प्रतिमा खड़ी हो, इससमय भरत सम्बोधन के लिए पधारते हैं।)

**भरत**—(दूर से ही) भुजबली-योगेश्वराय नमो नम : (पास जाकर चरणों में मस्तक रख देते हैं और पास ही खड़े होकर विनम्र-शब्दों से निवेदन प्रारम्भ करते हैं।) हे योगीराज! आपके मन में जिस बात का क्षोभ है, वह अभी मैं त्रिलोकदर्शी भगवान् आदीश्वर से जानकर आया हूँ; किन्तु योगीराज! कैसी छोटी-सी बात में आप अटक गए हैं। इस पृथ्वी को आप मेरी समझ रहे हैं, यह कैसी आश्चर्य की बात है। जिस पृथ्वी को अनेक-राजाओं ने भोग लिया है, जिस पर अभी मेरा शासन है और भविष्य में किसी अन्य का शासन होगा। ऐसी वेश्या-सदृश इस भूमि को आप मेरी समझ रहे हैं। क्या यह बात आप जैसे ज्ञानसागर के लिए योग्य है? गुरुदेव! विचार कीजिए, इस बात को गुप्त रखने की क्या आवश्यकता है कि जिससमय मैं षट्खण्ड विजय करके वृषभादि-पर्वत पर निजशासन लिखने गया, तब मेरा शासन लिखने के लिए मुझे पर्वत पर स्थान न मिला। सारा पर्वत पूर्व-चक्रवर्ती राजाओं के शासन-लेखों से भरा हुआ था। तब मुझे एक राजा का शासन-लेख मिटाकर अपना शासन होने पर भी लेख लिखना पड़ा। इस पृथ्वी पर मेरा ऐसा शासन। फिर भी आप इस पृथ्वी को मेरी समझ रहे हैं। इस भूमि की तो बात ही क्या, स्वर्ग के रत्नमयी-विमान और कल्पवृक्षों की विभूतियाँ भी इन्द्रों को नहीं है। इन्हें भी वे छोड़नी ही पड़ती हैं, तो इस पृथ्वी के

मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? फिर आप इस पृथ्वी को मेरी कैसे कह रहे हैं ? आत्म-शोधक। फिर विचार कीजिए, जब यह शरीर भी अपना नहीं है, तब दूसरे पदार्थों पर तो हमारा अधिकार ही क्या है ? आप इस पृथ्वी को तृण-तुल्य समझकर छोड़ आये, किन्तु मैं नहीं छोड़ सका, इसलिए आप मेरे गुरु हुए और मैं छोटा ही रहा, फिर भूमि मेरी कैसे रही ? आप तो ज्ञानसागर हैं योगीराज। आपके समक्ष मुझ तुच्छ-प्राणी की गिनती ही क्या ?

( भरत 3-4 मिनिट हाथ जोड़कर एक ओर खड़े रहते हैं, बिजली का प्रकाश कुछ धुँधला कर दिया जाता है, उसी समय देव जय-जयकार करने आते हैं। एकदम बिजली की चकाचौंध पैदा करनेवाला प्रकाश होता है। पुष्प-वृष्टि होती है, बाजे बजते हैं, सबको विदित हो जाता है कि भगवान् बाहुबली को केवलज्ञान हो गया है। सब विनयपूर्वक खड़े होकर मधुर-स्वर में भगवान बाहुबली की स्तुति करते हैं। इधर स्तुति समाप्त होती है, उधर पटाक्षेप होता है।)

इत्यलम्

❀❀❀

## बाबू जुगलकिशोर जैन 'युगल'

जन्म : 5 अप्रेल, 1924
खुरी, जिला - कोटा ( राज. )

देहपरिवर्तन : 30 सितम्बर, 2015

शिक्षा : एम.ए., साहित्यरत्न

पता : 85, चैतन्य विहार, आर्य समाज स्ट्रीट, रामपुरा, कोटा ( राज. ) 324006

ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान बाबू जुगलकिशोर 'युगल' को प्रसिद्ध देव-शास्त्र-गुरु पूजा एवं सिद्ध पूजा लिखने के कारण समाज में वही स्थान प्राप्त है, जो हिन्दी साहित्य में 'उसने कहा था' कहानी के लेखक पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को। 'युगलजी' उच्चकोटि के कवि, लेखक एवं ओजस्वी वक्ता हैं।

15 वर्ष की अल्पवय में ही आप में काव्य-प्रसून अंकुरत होने लगे थे। तब राष्ट्रीय चेतना एवं स्वतंत्रता-संगाम का युग था। युग के प्रवाह में आपकी काव्यधारा राष्ट्रीय रचनाओं से प्रारम्भ हुई। पारम्परिक धार्मिक संस्कार तो आप में बचपन से ही थे, किन्तु उन्हें सम्यक् दिशा मिली इस युग में आध्यात्मिक क्रान्ति स्रष्टा श्री कानजीस्वामी से।

स्वयं श्री 'युगलजी' के शब्दों में - 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन एवं जीवनपथ मिला है।' युगलजी दर्शन को जीवन का समग्र स्वरुप मानते हैं और दर्शन की सर्वांग क्रियान्विति चैतन्य के साक्षात्कार में स्थापित करते हैं-

जो चेतन के भीतर झाँका, उसने जीवन देखा
बाकी ने तो खींची रे ! परितप्त तटों पर रेखा

जनमानस में जैनदर्शन का साधारणीकरण आपके काव्य का मूल लक्ष्य है।

आप सफल गद्य एवं नाट्य-लेखक भी हैं। आपके साहित्य कोष से लोकोत्तर रचनाओं में काव्य संग्रह ''चैतन्य वाटिका'' एवं गद्यविद्या ''चैतन्य विहार'', ''चैतन्य की चहल-पहल'' ( हिन्दी-अंग्रेजी ) में साहित्य व अध्यात्म के समावेश से जैन जगत को नया आयाम मिला है।

आपके गहन चिन्तन से प्रसूत तात्विक चर्चायें एवं प्रवचन का बहुमूल्य संकलन - चर्चा चैतन्य की, जैन क्षितिज के उदित नक्षत्र, गुणावली सिद्धों की, सुरभित पाखुरियाँ आदि सरस नूतन प्रदेय हैं।

युगलजी अखिल भारतीय स्तर के प्रवचनकार हैं और उनकी उपस्थिति धार्मिक आयोजनों का महत्त्वपूर्ण आकर्षण मानी जाती है।